राजस्थानी लोकसाहित्य :

अध्ययन के आयाम

राजस्थानी लोकसाहित्य :

अध्ययन के आयाम

लेखक
डा० रामप्रसाद दाधीच
प्राध्यापक
हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्व विद्यालय
जोधपुर

जैनसन्स
रातानाडा, जोधपुर-३४२००१

लोकसाहित्य : अध्ययन के आयाम

प्रथम संस्करण - १९७९

मूल्य : रु २५.००

देवेन्द्र वर्मा द्वारा जैन सन्स के लिये प्रकाशित
शाखायें–२५६, बापू बजार, उदयपुर
चौडा रास्ता, जयपुर

मुद्रक
एम. एल. प्रिन्टर्स,
३७६ सरदारपुरा ४ थी रोड
जोधपुर

पुण्यात्मा

मा

की

पावन स्मृति को

कथ्य

अपनी प्रस्तुत कृति का कथ्य लिखते समय एक प्रश्न स्वत: ही मेरे मन में उठ रहा है। लोकसाहित्य की अध्ययन-दृष्टि व वैज्ञानिक-विश्लेषण से सम्बद्ध इन स्फुट निबन्धों में क्या मैंने कुछ नया कहा है या नया दिया है? मैं यह निःसंकोच स्वीकार करूँगा कि सम्भवत नितान्त नया इन निबन्धों में मैं कुछ भी नहीं दे पाया हूँ। पिछले डेढ़-दो दशकों से मैं लोकवार्ता विषय को पढ़ता-पढ़ाता रहा हूँ। इस क्रम में, मैंने यह अनुभव किया कि कुछ हिन्दी लोकवार्ताविदों को यदि अपवाद-स्वरूप छोड़ दें, तो शेष प्राय सभी लेखकों साधकों में अभी तक वह वैज्ञानिक परिदृष्टि नहीं दिखाई देती जिसकी आवश्यकता अपेक्षा भारतीय लोकवार्ता साहित्य के समग्र मूल्यांकन के लिए है। इस दिशा में अभी तक अधिकांश काम संग्रह-सम्पादन का ही हुआ है। परिणामत भारतीय लोकवार्ता वाङ्मय में हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का जो प्रतिरूप सन्निहित है, वह अभी तक अपनी वास्तविकता में उद्घाटित नहीं हो पाया।

हमारे देश के कुछ विश्वविद्यालयों में यद्यपि लोकसाहित्य एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है; इस विषय पर शोध उपाधिपरक कार्य भी हुआ है, हो रहा है। किन्तु यह हमारे राष्ट्रीय जीवन की विडम्बना ही है कि अभी तक किसी भी विश्वविद्यालय में इस विषय के अध्ययन का स्वतन्त्रपीठ स्थापित नहीं हुआ। यही कारण है कि लोकसाहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा हमारे यहाँ नहीं बनी और न इस प्रकार की विश्वविद्यालयस्तरीय शास्त्रीय कृतियाँ ही अधिक तैयार हुईं।

इस कृति के द्वारा यदि मैंने कुछ अर्थपूर्ण कार्य किया है तो बस इतना ही कि *लोकसाहित्य की विविध विधाओं को मैंने वैज्ञानिक दृष्टि से देखा-परखा* है और इस विषय के अध्येताओं व शोधार्थियों के समक्ष इस विषय के तात्त्विक-अध्ययन की नई सम्भावनायें प्रकट की हैं। मेरे अध्ययन-विश्लेषण की आधार-

वस्तु इन निबन्धा मे मूलत राजस्थानी लाकसाहित्य की विविध विधायें रही हैं। पर लाकतात्विक अध्ययन न यही प्रतिमान अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लाकसाहित्य के अध्ययन म भी इतने ही उपयागी सिद्ध हा सकते हैं।

इन निबन्धा का तैयार करने म मैंने राजस्थानी, हिन्दी व अंग्रजी के अनेक विद्वाना के ग्रथा का उपयोग किया है। मैं उन सबके प्रति आभारनत हूँ। मेरे प्रकाशक मित्र श्री रमशचन्द्र जैन ने जिस त्वरा और उत्साह से इस कृति का प्रकाशन किया है, वह स्तुत्य है। मैं उनका किन शब्दा म धन्यवाद दूँ ?

और अन्त मे, लाकसाहित्य क अध्येताओं को इससे तनिक भी नई दृष्टि व प्रेरणा मिली ता मैं अपने श्रम को सार्थक समझूगा।

•

९ मार्च, ७९
नैवेद्य,
बलतसागर, जोधपुर

रा. प्र दाधीच

कथ्य : क्रम

लोकसाहित्य अनुसधान के क्षेत्र व दिशायें ११
लोकसाहित्य आधुनिक प्रासगिकता १६
राजस्थानी लोकगीत वर्गीकरण व भावभूमि २४
लोकगीत परिप्रेक्ष्य व आयाम ३०
लोकगीत छन्दात्मक प्रवृत्ति ४१
राजस्थानी लोककथायें एक मूल्याकन ४७
राजस्थानी लोक प्रेमाख्यान
एक साहित्यिक आकलन ५४
राजस्थानी लोक गाथायें एक विवेचन ६१
राजस्थानी लोकनाट्य एक साहित्यिक सर्वेक्षण ७६
राजस्थानी लोक रगमच सरक्षण की समस्यायें ८४
लोकनाट्य प्रस्तुतिकरण आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे ८६
राजस्थानी लोक कहावतें
कहावती कथाओं के सदर्भ मे ६५
राजस्थानी लोक वातालार्य
एक और लोकविधा ६८
लोकधर्म और दर्शन
स्वरूप और व्याख्या १०४
राजस्थानी लोकसाहित्य मे
रामकथा का स्वरूप ११७
लोकोत्सव नागपचमी—एक सास्कृतिक अध्ययन १२४
परिशिष्ट—सदर्भ १२७

अनुसंधान के क्षेत्र व दिशायें

लोकसाहित्य के विविध अगो, क्षेत्रो और उनकी अनुसधान-प्रक्रिया पर विचार करने से पूर्व उसके वास्तविक स्वरूप को समझ लेना समीचीन होगा। यह शब्द अग्रेजी के Folk और Literature इन दो शब्दो के हिन्दी स्थानापन्नो से निर्मित हुआ है। 'फोक' के लिये हिन्दी मे 'लोक' शब्द स्वीकार हुआ है। अग्रेजी 'फोकलोर' शब्द के पर्याय के रूप मे हिन्दी के कुछ विद्वानो ने, चाहे भ्रमवश ही सही प्रारम्भ मे, लोकसाहित्य अथवा लोकवाङ्मय शब्द का प्रयोग किया था। किन्तु अब यह त्रुटि कोई नही करता। अध्ययन और अधुनातन गवेषणाओ ने यह प्रकट कर दिया है कि 'फोकलोर' एक व्यापक अर्थ और परिवेश वाला शब्द है। लोकसाहित्य उसका एक अग मात्र है। डिक्शनेरी ऑफ फोकलोर, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकीना और एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज आदि मे 'फाकलोर' शब्द की विस्तृत विवेचना की गई है, और निष्कर्षत यह बताया गया है कि यह एक स्वतत्र विज्ञान है जो आदिम जन के विश्वासो, रूढियो, भ्रमो, श्रद्धा, भावनाओ, कथाओ, गीतो, कहावतो, मत्र, तत्र और टोनो आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार लोकसाहित्य इस बृहद् विज्ञान का एक अग मात्र रह जाता है। भारतीय लोकसाहित्य के विद्वान इस पारिभाषिक शब्द के लिये भी अनेक पर्यायो का प्रयोग करते रहे हैं जैसे– लोकशास्त्र, लोकविज्ञान, लोकसग्रह, लोकपरम्परा आदि। श्री उदयनारायण तिवारी और डा० चिन्तामणी आदि ने लोकायन शब्द को मान्यता दी है। लोकसस्कृति शब्द भी इसके अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है किन्तु आज लोकवार्ता शब्द सर्वमान्य हो गया है। निस्सन्देह वार्ता शब्द से कथा का बोध होता है किन्तु यथार्थ मे यह शब्द लोकमानस की समग्र अभिव्यक्ति का बोधक है। ओरेलियो एम० एस्पिनोजा ने इस एक वाक्य मे इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है– "Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of

primitive man" 'प्रिमिटिव' शब्द जरा चौंकाने वाला है किन्तु इससे केवल ऐतिहासिक दृष्टि से आदिम जाति अथवा आदिम मानव का अर्थ नही लेना चाहिये। यह शब्द उन गुणों, विशेषताओं तथा धर्मों का संकेत करता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से आदि मानव में होंगे और जो आज भी आदिम जातियों मे प्रत्यक्षत तथा सभ्य से सभ्य जातियों मे अप्रत्यक्षत मिलते हैं। यहाँ हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक सभ्य मनुष्य के भीतर उसका आदिम रूप छिपा हुआ रहता है। अत लोकवार्ता के अध्ययन की सीमायें केवल आदिम जातियों तक ही नही हैं। लेनिन का कथन है– "Folklore is material about the hopes and yearnings of the people" (लोकवार्ता जन-आशाओं और आत्म-भावों से संबंधित सामग्री है)। अपने ग्रंथ 'पृथ्वी पुत्र' म डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है कि "लोक का जितना जीवन है उतना ही लोकवार्ता का विस्तार है।"

लोकवार्ता-शास्त्र की इस महत्वपूर्ण पृष्ठ भूमि म लोकसाहित्य के अर्थ और राष्ट्रीय जीवन में उसके महत्व को आधुनिक काल में ईमानदारी के साथ समझा जाने लगा है। एक समय था जब इसे केवल ग्रामीण लोगों का साहित्य कहा जाता था। इसे साहित्य की संज्ञा देने के लिए भी विद्वान तैयार नही थे। इसके पार्श्व मे शायद शिष्ट साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष की दुराग्रहपूर्ण रूढ धारणायें थी। तब शायद साहित्य 'काव्यशास्त्र' का समानार्थक था। आज साहित्य शब्द अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य मे प्रयुक्त होता है और वह है मनुष्य की वह समस्त सार्थक-अभिव्यक्ति जो चाहे लिखित हो या मौखिक हो। ऐसी समस्त लोक-अभिव्यक्ति लोकसाहित्य के अन्तर्गत अभिहित की जायेगी। लोकसाहित्य वस्तुत लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है। यह साहित्य आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से शून्य होता है। यह किसी एक व्यक्ति की कृति नही होता। परम्परागत मौखिक-क्रम से यह अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य मे संचरण करता है। इसमे समूचे लोक मानस की प्रवृत्ति समाई रहती है। शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य म अन्य विभाजन-रेखाओं के अतिरिक्त एक मूलभूत रेखा है– अहं-चैतन्य की। यह अहं-चैतन्य शिष्ट साहित्य म विद्यमान रहता है किन्तु अपने ज्ञापित और परिमार्जित रूप मे। और वह एक व्यक्ति का होता है। लोक-साहित्य म यह अहं-चैतन्य किसी एक व्यक्ति का न होकर पूरी जाति अथवा समाज का होता है अत अज्ञापित रहता है।

लोक-साहित्य की रचना प्रक्रिया को लेकर बड़ा विवाद रहा है। इसके विस्तार मे न जाकर मैं यहाँ केवल प्रासगिक चर्चा ही करूगा। एक मत यह है कि लोक साहित्य का निर्माता शिष्ट साहित्य के निर्माता की भांति कोई एक व्यक्ति नही होता। यह लोक-मानस की सम्मिलित प्रक्रिया का प्रतिफलन है। आर० आर० मैरेट ने अपनी पुस्तक 'Phychology and Folklore' मे इस लोक-मानस को स्पष्ट करते हुये बताया है कि जो प्रवृत्तियाँ दाय रूप म हमे अपने पूर्वजो से मिलती है, वे अवचेतन मानस मे स्थान बनाती है। मनुष्य का सहज अवचेतन (उपार्जित नही) ही लोक मानस है। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओ ने इसी लोक मानस को 'सामूहिक मानस' भी कहा है। आदिम जातियो का जीवन सामूहिक रहा है। अत विविध मनोभावो की अभिव्यक्ति सामूहिक ही हुई है। ग्रिम और स्टेन्थल इसी समुदायवादी सिद्धान्त के अनुयायी थे।

दूसरा मत है कि लोकसाहित्य का निर्माण भी व्यक्ति द्वारा ही होता है किन्तु वह अपने अह-चैतन्य को समाज के मानस और जीवन मे सम्पूर्ण रूप से विलुप्त कर देता है। उक्त सृजन मे व्यक्ति सत्ता के रूप मे कही नही रहता। श्लेगल (व्यक्तिवाद) और वाइल्ड (व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद) जैसे लोक वार्ता-विदो ने इसी सिद्धान्त का पक्ष लिया है।

लोकसाहित्य के प्रमुख दो भेद हैं—गद्यमय लोकसाहित्य और पद्यमय लोक-साहित्य। गद्यमय लोकसाहित्य मे मूलत लोककथायें, कहावतें और लोकोक्तिया आती हैं। पद्यमय लोक साहित्य विधाओ की दृष्टि से अधिक समृद्ध है। यथा लोकगाथा (Ballads), लोकगीत, लोकनाट्य, पलने के गीत, बालको के गीत आदि। उक्तियो और सूक्तियो की भी इसमे कमी नही है—कहावतें और लोकोक्तियाँ पद्यबद्ध भी मिलती हैं। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि यह साहित्य लोक के ज्ञान और अभिव्यक्ति की विविध विधाओ का विशाल भण्डार है।

लोकसाहित्य की खोज के इतिहास से पता चलता है कि १७वी शताब्दी के प्रारम्भ म ही लोकसाहित्य के अध्ययन का प्रारम्भ हो गया था। १६वीं शताब्दी के मध्य मे पाश्चात्य देशो मे इस अध्ययन में तीव्रता आई। भारत मे इस अध्ययन का श्री गणेश विदेशी विद्वानो ने ही किया। जेम्स टॉड, सी० ई० गोव्हर, डा० वेरियर एलविन, क्रिश्चियन जोन आदि विद्वानो ने इस क्षेत्र में जो कार्य किया है, चाहे आज हमे उसमें वैज्ञानिकता का अभाव और अनेक विसगतिया दिखाई दें, किन्तु उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस

विद्वानो को निश्चित रूप से पाइनीयर कहा जायेगा। बिहार, उडीसा, अवध, पजाब, छत्तीसगढ, दक्षिण भारत आदि के जगलो और पर्वत प्रदेशों मे रहने वाली आदिम जातियो के लोकगीतो और कथाओ तथा उनकी सस्कृतियो से सम्बद्ध उपयोगी उपकरणो के सकलन का कार्य सरल और साधारण नही था। वे हमारे टार्च बियरर रहे हैं। इन्ही विदेशी विद्वानो से प्रेरणा ग्रहण कर, राष्ट्रीय जागरण और जातीय चेतना के २०वी शताब्दी के प्रारम्भ काल मे भारतीय विद्वानो ने भी इस क्षेत्र मे कार्य करना शुरू किया। गुजराती मे झवेरचन्द मेघाणी, बगाल के अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और योगीन्द्रनाथ सरकार, मराठी के साने गुरुजी, वामण चौरधडे, कमलाबाई देशपाडे, राजस्थान के सूर्यकरण पारीख, जगदीशसिंह गहलोत, पजाब के देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृता प्रीतम, हिन्दी के रामनरेश त्रिपाठी आदि विद्वान इस क्षेत्र मे सदैव अविस्मरणीय रहेगे।

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश मे बहुदिश राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ है। प्रादेशिक भाषाओ और उनके साहित्य के अभ्युदय-युग का सूत्रपात हमारी राष्ट्रीय सस्कृति के उदय का एक नूतन चरण माना जायेगा। भारत के विविध अचलो और जनपदो की सस्कृति और लोकसाहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के क्षेत्र मे भी नई चेतना आई है। कुछ प्रान्तो मे लोक-सस्कृति सस्थान भी बने है। डा० सत्येन्द्र, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, डा० श्याम परमार, डा० चिन्तामणि उपाध्याय आदि ने लोक साहित्य के अध्ययन का नया वैज्ञानिक मोड देने का प्रयत्न किया है। किन्तु हमे यह नि सकोच स्वीकार करना चाहिये कि पाश्चात्य देशो मे इस क्षेत्र मे जितनी प्रगति और कार्य हुआ है उसकी तुलना मे हम आज भी बहुत पिछडे हुये है। यदि मैं यह कहूँ कि लोकसाहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन तो दूर रहा सकलन-सरक्षण का कार्य भी हम वैज्ञानिक पद्धति से अभी पर्याप्त मात्रा मे नही कर पाये है तो यह मिथ्या नही होगा। अन्य प्रान्तो की बात मैं नही कहता। राजस्थान में सकलन का जो कार्य हुआ है वह घोर अवैज्ञानिक और भ्रामक है। प्रारम्भ में अग्रणी व्यक्तियो के रूप मे सूर्यकरण पारीक, स्वामी नरोत्तमदास, ठाकुर रामसिह और जगदीशसिह गहलोत ने जो कार्य किया आज उन्ही के सकलित साहित्य का अनुकरण कर अनेक सग्रह निकाले जा रहे हैं। अधिक हुआ तो दस-पन्द्रह नये लोकगीत अथवा कथायें उनमे और जोड दी। यह अभ्यास सर्व प्रचलित हो गया है। लोकसाहित्य के सही पाठ्य स्वरूप की ओर

तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। लोककला मण्डल, उदयपुर ने इस ओर कुछ प्रशसनीय कार्य किया है। राजस्थान संगीत नाटक अकादमी को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। किन्तु आज लोकसाहित्य के अध्ययन के क्षितिज बहुत विस्तृत हो गये हैं। जहा लोकसाहित्य का सकलन और सरक्षण वैज्ञानिक दृष्टि और प्रणाली की अपेक्षा रखता है वहाँ इसका अध्ययन लेखको और अनुसधित्सुग्रो से यह भी आशा रखता है कि धर्म, इतिहास और भूगोल के साथ भाषा शास्त्र मानव मनोविज्ञान, लोक मनोविज्ञान, प्रेत विज्ञान, नृवश विज्ञान, नृ-विज्ञान, समाजशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र आदि विषयो मे भी उनकी गहरी गति हो। इन वैज्ञानिक आधार-बिन्दुओ को लेकर जब लोकसाहित्य का अध्ययन होगा तभी समाज और समाज की सस्कृति के सतत विकास का सही रूप हमारे सामने आ सकेगा।

लोककलाओ और लोकसाहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि लोकमानस समूचे विश्व मे समानधर्मी रहा है। पचतत्र की कहानियो के कथारूप अन्य देशो की लोककथाओ मे भी उपलब्ध होते हैं। धर्म गाथाओ के मूल म प्रागार्य सभ्यता के अवशेष ढूढे जा सकते हैं। अनुसधान और गवेषणाओ ने आज यह भी सिद्ध कर दिया है कि शिष्ट साहित्य के सृजन मे लोकसाहित्य निरन्तर प्रेरणा और योग देता रहा है। महाभारत और पुराणो की अधिकाश कथा-सामग्री लोककथाओ और धर्म गाथाओ ने दी है। जायसी के पद्मावत की कथावस्तु का आधार भी लौकिक आख्यान ही माना जाता है। इस प्रकार लोकसाहित्य हम एक सुदृढ सास्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से लोकसाहित्य का अध्ययन शोधकार्य की नई भूमि प्रदान करता है। लोकगीतो, गाथाओ और कथाओ मे प्रयुक्त शब्दो की निरुक्ति का पता लगाने पर भाषा शास्त्र-सम्बधी अनेक गुत्थियाँ सुलझायी जा सकती हैं। शब्द विकास के सूत्रो का पता लगाया जा सकता है। सस्कृत और हिन्दी मे ऐसे अनेक शब्द नहीं मिलते जो वेदो मे तो हैं। शोध के पश्चात् पता लगा है कि उन्ही के समानार्थक शब्द प्रादेशिक भाषाओ मे विद्यमान हैं। लोकसाहित्य के माध्यम से लोकभाषाओ का अध्ययन हिन्दी को समृद्ध करेगा। डा० ग्रियर्सन ने लोकगीतो की भाषा की महत्ता के सम्बध में लिखा है—"इन गीतो की प्रत्येक पक्ति मे ऐसी विशेषता है जिससे भाषाशास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्यायें हल की जा सकती है।"

तीव्रगामी आवागमन के साधनो और औद्योगीकरण के इस युग मे लोकसाहित्य के मूल स्वरूप मे द्रुतगति से परिवर्तन हो रहे हैं। गावो के निवासी आजीविका अथवा अन्य शहरी आकर्षणो के कारण बडे-बडे नगरो मे जाकर रहने लगे हैं। इस प्रकार नागरिक सस्कृति लोकसस्कृति के साथ लोकसाहित्य को भी प्रभावित कर रही है। इस प्रभाव के कारण लोकसाहित्य के भाषा स्वरूप मे द्रुतगति से परिवर्तन आ रहा है। इस क्षेत्र मे अमेरिका और रूस मे अनुसधान हुये हैं और पता लगा है कि लोकगीत व लोकसाहित्य के अन्य रूप अपने मूल भाषारूप को द्रुतगति से खोते जा रहे हैं। लोकसाहित्य का इस प्रकार का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। लोक-साहित्य के भाषा वैज्ञानिक इस अध्ययन से एक नये शास्त्र-लोकनिरुक्ति (Folk-Entomology) का जन्म हुआ है। लोक की शब्द-निर्माण प्रवृत्ति, लोक शब्दों की व्युत्पत्ति तथा लोक शब्दो की पहिचान इस शास्त्र के विषय है। इस निरुक्ति शास्त्र की दृष्टि से भारतीय लोकसाहित्य का भाषा-तात्विक अध्ययन अभी अपनी शिशु अवस्था मे ही है।

लोकसाहित्य लोक की आर्थिक नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। विरहिणी नायिका अपने प्रवासी प्रियतम का जब यह सदेश भेजती है—"छपर तो पुराणा पड गया ढोला। तडकण लाग्या बास" तो उसकी विरह-पीडा के साथ समाज का जर्जरित आर्थिक ढाचा भी हमारे सामने आ जाता है। भारतीय जीवन धर्ममय है इसलिए इसका लोकसाहित्य भी धर्ममय है। भक्ति गीतो, (हरजस), व्रत कथाओ, धर्मगाथाओ, लोकगाथाओ आदि मे लोकजीवन की नैतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि के दर्शन होते है। शिव, पार्वती, गणेश, राम, कृष्ण के अतिरिक्त भैरु, पाबू, हडबू, तेजा आदि लोकदेवताओ की भी आदिम समाज म मान्यता रही है। देवी-देवता विषयक इन लोकगीतो के अध्ययन से अनेक धार्मिक व समाजशास्त्रीय सत्य उद्घाटित होते है। एक सत्य यह उद्घाटित होता है कि इन लोक देवी-देवताओ की पूजा, वन्दना और अर्चना सम्पूर्ण समाज के कल्याणार्थ होती है। व्यक्ति अपने लिये देवता से कुछ भी याचना नही करता। धर्म की यह कितनी ऊची भूमि है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोकगीतो के महत्व को इन शब्दो मे प्रति-पादित किया है—"ग्राम गीतो का महत्व उनके काव्य-सौंदर्य तक ही सीमित नही है। इनका एक महत्वपूर्ण कार्य है—एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र मे डूब गई है या गलत समझ ली गई है।"

इसमे कोई सदेह नही कि लोकसाहित्य, साहित्य कला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है किन्तु हमे यहाँ एक मूलभूत सत्य सदैव याद रखना होगा और वह यह कि लोकसाहित्य रचयिता के अहं-चैतन्य, शास्त्रीयता और पाण्डित्य के भावो से सर्वथा रहित लोकमानस की सहज रचना है। अब यदि इस साहित्य का मूल्याकन अलकार शास्त्र, पिंगल, नायक-नायिका भेद, आधुनिक कथा-सिद्धातो के आधार पर किया जाने लगा तो वह इस साहित्य के साथ निर्मम अनाचार होगा। यह बात नही कि साहित्य कला का उपर्युक्त स्वरूप लोक-साहित्य मे त्याज्य रहा है। रस, अलकार, छन्द-स्वरूप नायक नायिकायें—सभी लोक साहित्य मे विद्यमान हैं किन्तु शिष्ट साहित्य का रुढ व आग्रही स्वरूप लेकर वे वहाँ नही आते। लोकगीत आदि मानव का उल्लास-मय सगीत है। (Spontaneous music has been called Folk-song by Parry) कैन्नेथ रिचमड ने अपनी पुस्तक 'Poetry and the People' मे कहा है Whether or not they be poetic they haunt us with a sweet sense of poetry—Every syllable is loaded with more than meaning It is literally the Holy word that walked among the ancient trees (वे काव्य हैं अथवा नही किन्तु काव्य के मधुर भाव से वे हमें मनमुग्ध कर देते हैं। उनका प्रत्येक वर्ण अर्थ से भी कुछ अधिक महत्व रखता है। शब्दत यह देवी शब्द है जिसने प्राचीन पादपो मे सचरण किया है) लोकगीत मे मुख्यत स्वर और सगीत की प्रधानता है। गीत केवल शब्दो तक सीमित नही है। लिखने के पश्चात् तो उसका रूप और भी विकृत और निष्प्राण हो जाता है। अस्तु, लोकगीतो के साहित्यिक सौंदर्य का अध्ययन Folk Asthetics की दृष्टि से किया जाना चाहिये।

लोकसाहित्य का अपना एक पृथक शिल्प-विधान, सौन्दर्य-शास्त्र है। लोक-गाथाओं (Ballads) में यदि प्रबन्ध-काव्य के लक्षणो की खोज हुई तो चाहे हमें अपने सतोष के लिए कुछ लक्षण मिल जायें किन्तु वे हमारी शास्त्रीय कसौटी पर पूर्णत खरे उतर जाय, इसकी सभावना कम है। उदाहरण के लिए राजस्थानी लोकगाथायें-पाबूजी, निहालदे, बगडावत आदि को लीजिये इनमे भले ही प्रबन्ध-काव्य के कुछ लक्षण मिल जाय किन्तु फिर भी ये प्रबन्ध-काव्य की सफल रचनायें नही कही जा सकती। लोकगाथा और लोकगीत मे हमें लोकसगीत को प्रधानता देकर चलना पडेगा। उपमा, श्लेष और रूपक अलकारो की अद्भुत छटा लोकसाहित्य मे देखने को मिलती है। दोहा, सोरठा, चर्चरी, आल्हा आदि छन्द-रूप भी लोकगीतो मे प्रयुक्त हुये है किन्तु

ये सब अप्रयत्नज-सहज रूप मे आ गये हैं। हमे सदैव स्मरण रखना होगा कि लोकसाहित्य का निर्माता काव्यशास्त्र का अध्ययन कर सृजन करने नही बैठता।

लोकगीतो का अध्ययन उनके वर्गीकरण, रचनाशिल्प, उनके निर्माण तत्व, उनमे अभिव्यक्त लोकसस्कृति की धारा, उनका सगीत पक्ष आदि दृष्टिकोणो से किया जाना अधिक समीचीन और वैज्ञानिक लगता है। लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन भी होना आवश्यक है। उदाहरण के लिये सथालो के लोकगीतो और राजस्थान के भीली लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन जीवन और चिंतन की अनेक समानताओ का उद्घाटन करेगा। गुजराती और राजस्थानी लोकगीता की भावभूमि मे पर्याप्त सादृश्य है। आज इस प्रकार के अनुसधानात्मक अध्ययन की नितात आवश्यकता है।

लोककथाओ का अध्ययन भी इसी प्रकार की वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा रखता है। लोकसाहित्य मे कथा-कहानी की सत्ता बडी व्यापक है। लोक-कथा साहित्य के दो रूप मिलते हैं—एक धर्म गाथा (*Myth*), दूसरा लोक-कथा। लोककथा के उदय और विकास को लेकर लोकसाहित्यविदो मे बडा विवाद रहा है। कुछ विद्वान धर्मगाथा का जन्म लोककथा से पहले मानते हैं। कुछ इस सिद्धात का विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि देववाद की कल्पना आदिम मनुष्य ने बहुत बाद म जाकर की है। धर्मगाथायें ऐतिहासिक सामग्री भी प्रदान करती है।

कथा के मानक रूपा (Tale-Types), मूल अभिप्रायो (Motifs) उनके विविध शिल्प-रूपो और विषयगत भेदो की दृष्टि से लोककथा साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिये। इन कथाओ मे वर्णित पारम्परिक रीति-रिवाजो (Traditional customs), जादू-टोनो, देवी-देवताओ, राक्षसो आदि के अस्तित्व का अध्ययन किया जाना चाहिये। यह अध्ययन लोकसस्कृति की विविध अवस्थाओ और उसके क्रमिक विकास की सबल पृष्ठभूमि प्रदान करता है। कथानक लोककथाओ की आत्मा है। अध्ययन मे विशेष रूप से उसी को महत्व दिया जाना चाहिये। लोककथा साहित्य के अध्ययन के आज दो प्रधान सिद्धान्त हैं– एक है भाषा वैज्ञानिक (Philological) और दूसरा नृतत्व वैज्ञानिक (Anthropological)। एक तीसरा वैज्ञानिक सिद्धान्त और प्रचलित हुआ है और वह है लोककथाओ का तुलनात्मक अध्ययन और उसके

लोक कहानी के मूल पाठ-स्वरूप को स्थापित कर उसके आपागत रूपान्तरों का अध्ययन भी अनुसन्धान का एक विषय है। लोककथायें ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करती हैं। अत अध्ययन की एक दृष्टि यह भी हो सकती है।

लोकोक्तियाँ और कहावतें भी गवेषण के विषय हैं। भाषा शास्त्रीय पक्ष के साथ उनमें अभिव्यक्त लोक मनोविज्ञान का भी अध्ययन आज किया जाने लगा है। लोकसाहित्य में मत्र-साहित्य का भी प्राचुर्य है। पाश्चात्य देशों में इस साहित्य पर भी गवेषणायें हो रही हैं। भारतीय साहित्य का यह अग अभी उपेक्षित ही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकसाहित्य के सागोपाग और वैज्ञानिक अध्ययन के लिये आज आधुनिकतम व्यापक वैज्ञानिक दृष्टि वाछनीय है। लोकसाहित्य के अध्ययन और शोध की जो अनुसधित्सु आकाक्षा रखते हैं, उनके लिए कठिन पुरुषार्थ, लगन और अजेय आत्मबल की तो आवश्यकता है ही। इससे भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि वे जिस अचल, जनपद अथवा क्षेत्र के लोकसाहित्य का अध्ययन और अनुसधान कर रहे हैं, वहाँ के जन-जीवन में घुलमिल जाय, उस क्षेत्र की सस्कृति से अपना पूर्ण तादात्म्य कर लें। यद्यपि लोकसाहित्य अब मुद्रित रूप में उपलब्ध हो जाता है किन्तु अधिकाश अभी लोककठ पर ही प्रतिष्ठित है। मुद्रित लोक-साहित्य अधिक प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता। अस्तु, अध्येता और गवेषक के लिये मौलिक सकलन और सर्वेक्षण का कार्य भी करना अनिवार्य है। इस कार्य के लिये उद्योग, आत्मबल के साथ अपूर्व सहिष्णुता की आवश्यकता भी रहती है।

यह प्रसन्नता और सौभाग्य का विषय है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में लोक-साहित्य अध्ययन और शोध उपाधि के विषय के रूप में मान्य हो गया है। विश्वविद्यालयों में लोकसाहित्य की विविध-विधाओं और पक्षों पर कार्य हो रहा है। भारतीय लोकसस्कृति के मूल उद्गम, उसके सचरण और विकास के इतिहास पर नया प्रकाश पड रहा है। किन्तु यह दुख के साथ कहा जायेगा कि पाच-छ विश्वविद्यालयों को छोडकर ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के नियमित अध्ययन-अध्यापन की समीचीन व्यवस्था हमारे सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में अभी नहीं हुई है। राजस्थान के समृद्ध लोकसाहित्य की सभी साहित्यविदो

ने मुक्त हृदय से प्रशंसा की है किन्तु प्रान्त के तीन विश्वविद्यालयों में से अभी एक में भी इसका स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर स्वतंत्र रूप से अध्यापन प्रारम्भ नहीं किया गया है। यह उल्लेख इस निबन्ध में शायद अप्रासंगिक प्रतीत हो किन्तु मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि जब तक विश्वविद्यालयों में इस विषय के वैज्ञानिक शिक्षण की व्यवस्था नहीं होगी; प्रयोगशाला, पुस्तकालय, टेप्स आदि की सुविधायें नहीं जुटाई जायेंगी तब तक इस क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसन्धान वैज्ञानिक और उच्चस्तरीय नहीं हो सकते।

आजकल एक प्रश्न उठाया जाने लगा है कि लोकसाहित्य के संरक्षण और अध्ययन की इस आधुनिक वैज्ञानिक युग में आवश्यकता भी है अथवा नहीं। बढ़ती हुयी औद्योगिकता हमारे अतीत के जीवन मूल्यों को ध्वस्त कर रही है। वर्तमान मूल्य भी तेजी से साथ बदल रहे हैं तो फिर इस साहित्य की क्या उपादेयता रह जाती है? मेरे मत में इस सांस्कृतिक सम्पदा को विस्मृत करना और खोना मानव जाति की भयंकर भूल होगी। अतीत सदैव किसी न किसी परिवेश में हमारे वर्तमान में जीवित रहता है। लोकसंस्कृति आने वाली प्रत्येक मानव पीढ़ी को जीवन-शक्ति प्रदान करती है। नई कविता के सदर्भ में लोकसाहित्य के महत्व को स्वीकार करते हुये डा नामवरसिंह ने एक स्थान पर कहा है– "कविता में जब नया मार्ग नहीं सूझता, नयी दिशायें मेघाच्छन्न दिखायी पड़ती हैं और पुरानी चार दीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता तो लोकशक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है नया कवि इस प्राणदायिनी लोकशक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।" यह केवल साहित्य के क्षेत्र में ही सत्य नहीं है, समूचे जीवन के क्षेत्र में सत्य है। आधुनिक नाटक, कथा और अन्य आभिजात्य कलायें लोकसाहित्य से निरन्तर प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं।

अपने विषय का समापन करते हुये मैं दोहराऊँगा कि लोकसाहित्य जनता-जनार्दन की मूल्यवान सम्पत्ति है। इसमें मानव समाज का निर्मल किन्तु विराट जीवन अभिव्यक्त हुआ है। इसका संरक्षण, अध्ययन और अनुसन्धान हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है। जो लोग इस क्षेत्र में प्रवेश करने की अभि-रुचि और इच्छा रखते है, उनमें जन जीवन से आत्मसात् होने की सदेच्छा और तत्परता नितान्त वाछनीय है। कुर्सी-टेबिल पर बैठकर, घर या पुस्तकालय में

लोकसाहित्य का शोध-कार्य नहीं किया जा सकता। इसके लिये ग्राम, खेत खलिहान, नदी, बावडी आदि स्थानों पर जाना पड़ता है। क्षेत्रीय कार्य (Field Work) के बिना लोकसाहित्य पर शोध-कार्य करने की कल्पना ही दुसाध्य है। अतः शोधकर्ता को अपनी क्षमता, सामर्थ्य व साधन-सुविधाओं का सही अनुमान होना चाहिये। इस साहित्य का सांगोपांग अध्ययन व शोध एक व्यापक वैज्ञानिक शोध-दृष्टि की अपेक्षा रखते है।

आधुनिक प्रासंगिकता

'लोक साहित्य के अध्ययन की प्रासंगिकता' क्या है ? इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता के यों तो कई कारण हो सकते हैं किन्तु उनमें मुझे दो अधिक गुरुतर और प्रमुख लगते हैं। एक कारण तो स्वयं लोक साहित्य का अर्थ, परिभाषा, उसकी अतीतगामी विषय-वस्तु और ग्रामीण शैली रूप है। साहित्य चिन्तकों और बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग आज भी विद्यमान है जो लोक साहित्य को आदिम, असभ्य, ग्रामीण समाज-तंत्र व पुरासंस्कृति की विरासत मानता है। उसकी भ्रान्त धारणा में यह एक ऐसी साहित्य-परम्परा है जिसमें अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, निर्जीव परम्पराओं, देवी-देवताओं व भूत प्रेतों के अवशेष हैं और जो मानव जीवन की प्रवेगमयी धारा और जीवन्त विवेक को कुण्ठित करते हैं। शायद इसीलिये लोक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान ओरेलियो एम एम एसपिनोजा ने एक स्थान पर कहा है—"लोक-साहित्य को आदिम मनुष्य के मानस की सच्ची और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।" किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। लोकसाहित्य के अध्ययन के प्रारम्भिक काल में विद्वानों की ऐसी धारणायें अवश्य बनी थीं। तब लोक साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक परिदृष्टि का विकास नहीं हुआ था। आज लोक साहित्य का अध्ययन कई सोपानों को पार कर पूर्णतः वैज्ञानिक हो गया है। मानव-मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में रखकर जब इसका अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है तो जीवन, समाज और संस्कृति के ऐसे सार्वभौमिक, अर्थवान सत्य-तथ्य उद्घाटित होते हैं जो मानव की विकास-यात्रा को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये बड़े मूल्यवान सिद्ध हुए हैं। आज लोक साहित्य जहाँ जाति विज्ञान, समाज शास्त्र, नृवंश शास्त्र, इतिहास व पुरातत्व का अंग है तो वह भाषा विज्ञान का भी सहोदर है। अस्तु, लोक साहित्य को केवल आदिम मानव का अवशेष मानना अथवा निर्जीव रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और भूत-परम्पराओं का अभिलेख कहना समीचीन नहीं है।

'लोक साहित्य के अध्ययन की प्रासंगिकता' क्या है? इस पर विचार करने का दूसरा कारण पहले कारण से ही मूलरूप से जुड़ा हुआ है। आधुनिक युग को वैज्ञानिक युग कहा जाता है। आज मनुष्य चन्द्रमा तक पहुँच गया है और अन्य ग्रहों-नक्षत्रों तक पहुँचने की तैयारी में संलग्न है। प्रकृति के अगम्य रहस्यों का उसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मानव जीवन के अनुद्घाटित जटिल रहस्यों को उसने जान लिया है। वह वैज्ञानिक प्रज्ञा के सहारे निरन्तर अन्वेषणशील होकर ज्ञान विज्ञान के धुर क्षितिजों को छू रहा है। देवी-देवता, भूत-प्रेत, जादू टोना, शकुना-अपशकुना, राजकुमार और राजकुमारियों के रोमांचकारी प्रेम प्रसंग, अनुष्ठान, रीतिरिवाज जो व्यतीत युग के हैं, आज उसके लिये कैसे साथक और उपयोगी हो सकते हैं? यह एक ऐसा विषय है जो लोक साहित्य की समूची सम्पदा की प्रयोजनीयता पर आगे लोह प्रश्न चिन्ह लगाता है। तब मैं अपने उसी उत्तर को दोहराता हूँ कि लोक साहित्य यह सब कुछ नहीं है। लोकसाहित्य लोकमानस की सार्व-भौमिक वाणिगत अभिव्यक्ति है और यह लोक मानस असभ्य, ग्रामीण व आदिम नहीं है। मनोविज्ञानवेत्ता भलीभाँति समझते हैं कि लोक मानस किसी न किसी रूप में हम सब प्रबुद्धजनों में अवश्यमेव सदैव विद्यमान रहता है। लोकसाहित्य कभी नहीं मरता, कभी बासी और व्यतीत नहीं होता, कभी अर्थहीन नहीं होता—वह सदैव सार्थ और जीवन्त रहता है। अतः उसकी प्रासंगिकता अथवा प्रयोजनीयता है और सदैव रहेगी।

किन्तु मेरी इस स्थापना को समझने के लिये लोकसाहित्य के अध्ययन की दिशा-दृष्टि हमें बदलनी होगी। इसकी समझ के नये सूत्र और माध्यम हमें स्वीकार करने होंगे। यह अब पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका है कि लोक साहित्य एक स्वतन्त्र विज्ञान भी है। भाषा विज्ञान, जाति विज्ञान, मनोविज्ञान, नृवंश शास्त्र समाज शास्त्र, पुराण, प्रतीक विज्ञान, कथानक रूढ़ियाँ, मिथक, मूल स्थापित (Archetype) के संदर्भ में जब लोकसाहित्य का अध्ययन विश्लेषण किया जाता है तो इसकी प्रासंगिकता, अर्थवत्ता और व्यापकता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। लोक साहित्य के अक्षर, शब्द और वाक्य को भाषा विज्ञान के संदर्भ में देखिये—आपको लगेगा कि उसकी कोई भाषागत अभिव्यक्ति निरर्थक नहीं है। व्यक्तिनिष्ठ आभिजात्य साहित्य में भाषा की वर्णसंकरता मिल जायेगी, शब्दों का मनमाना प्रयोग, भाषा विन्यास की विकृतियाँ दिखाई देंगी किन्तु लोक साहित्य अपनी समग्र अभिव्यक्ति की सहजता में अपना शोभन और

सुन्दरता यहीं नहीं जाता। लोक साहित्य मानव की अभिव्यक्ति में पद से नहीं पदगत अर्थ से भी सम्बंधित है। लोकसाहित्य के अर्थ भाषागत अर्थ की भाँति अभिधा,लक्षणा,व्यंजना शक्ति से ही प्रकट नहीं होते अपितु अर्थ के लिए अतिरिक्त कुछ अन्य शक्तियों की भी आवश्यकता रहती है। लोकसाहित्य की भाषा और अभिव्यक्ति का अध्ययन भाषाशास्त्रीय दृष्टि से जब होता है तो भाषागत प्रासंगिकता के नये क्षितिज उद्घाटित होते हैं। अभिजात्य भाषा जब-जब रुग्ण और बासी होती है, तब-तब वह लोक भाषा से ही शक्ति ग्रहण करती है। प्रत्येक भाषा के सर्जक लेखक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। यह बात केवल लोकसाहित्य की भाषा पर ही लागू नहीं होती, अपितु लोकसाहित्य के शैली-स्वरूपों पर भी लागू होती है। लोक कथा, लोक गीत, लोक नाट्य के शैली-स्वरूपों ने आभिजात्य साहित्य की वर्तमान विधाओं को प्रभावित किया है, प्रेरणा दी है। हिन्दी की आधुनिक कहानी, गीति-काव्य, हिन्दी रंगमंच इस बात के प्रमाण हैं। भारतीय लोकसाहित्य के शैली-स्वरूपों से आगरक हिन्दी लेखक ने प्रेरणा ली है। हिन्दी के वर्तमान रंगमंच को तो इसने दूर तक प्रभावित किया है। यह लोकसाहित्य की प्रासंगिकता ही है—न केवल मंच-शिल्प अपितु प्राचीन लोक नाट्यों की कथावस्तु का मममार्मायिक बोध और नई प्रासंगिकता देकर उन्हें सफलता के साथ मंचित किया जा रहा है। इसी प्रकार लोकगीतों की धुनों को आधार बनाकर, उसकी सहज लयात्मक शब्दावली का प्रयोग कर, उसके प्रतीक, बिम्ब और काव्य उपकरण लेकर आज का हिन्दी गीतकार नये गीतों की सृष्टि कर रहा है। यह प्रभाव साहित्य तक ही नहीं, चलचित्र कला तक परिलक्षित होता है।

प्राय लोकसाहित्य की भाषा प्रतीकात्मक होती है। सर्प, कमल, वृक्ष, पक्षी, रंग, हाथी, घोड़ा, संख्या, मण्डल, चक्र वहाँ अपने अभिधागत अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ रखते हैं। अत सम्पूर्ण प्रतीक विज्ञान को समझ कर ही लोक-साहित्य के निहित अर्थ का धावन हो सकता है। उदाहरण के लिए राजस्थानी लोक गीत पीपली, पूरे परिवार का प्रतीक अर्थ रखता है। इसी प्रकार लोक-कथाओं में प्राण-प्रतीक, सर्प पुत्र, चोर शिरोमणी, नरक यात्रा, बहादुर दर्जी, पशुओं की भाषा आदि ऐसे कथानक-अभिप्राय हैं जो जहाँ कथाकला को लालित्य और अर्थ प्रदान करते हैं, वहाँ लोक मानस की विशेष प्रवृति का उद्घाटन करते है। लोक कथाओं के कथा मानकों का अध्ययन विश्वकथा साहित्य की एकरूपता को प्रकट करता है। साथ ही यह भी इससे सिद्ध होता

है कि लोकमानस सर्वत्र एक है। लोक-चिन्तन मे कही विभेद और पार्थक्य नही है। लोक साहित्य की यह अर्थवत्ता स्पृहणीय है। स्टिथ थॉमसन कृत 'मोटिफ इन्डैक्स' ग्रथ से यह स्पष्ट हो जाता है। विश्व प्रसिद्ध लोक साहित्य-विद् फ्रेजर ने 'गोल्डन बाउ' ग्रथ के १२ खण्डो में विश्व भर की लोकवार्ताओ का सकलन कर यह सिद्ध किया कि टोना (Magic) धर्म से पूर्व किसी भी जाति के विकास मे स्थित रहा है।

लोकोक्ति या कहावत लोक साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है। लार्ड बैकन के शब्दो में—"किसी जाति की प्रतिभा, आत्मा और वाक्-वैदग्ध उसकी लोकोक्तियो मे से उद्घाटित होते हैं। लोकोक्तियो से भाषा की गरिमा और शक्ति का ही ज्ञान नही होता अपितु उनसे मानवचित्त का उद्भावन होता है। उनमे समाज, सस्कृति और इतिहास मुखुर होते हैं। राजस्थानी लोकोक्तियो का अध्ययन मेरे उक्त कथन को प्रमाणित करता है। डा० कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतो का वैज्ञानिक अध्ययन कर उनकी प्रासगिकता सिद्ध की है। इसी प्रकार मुहावरो और पहेलियो के महत्व को भी नकारा नही जा सकता।

लोक-साहित्य अपने विधा-वैविध्य, भाषा-सौन्दर्य, अर्थलालित्य, अभिव्यक्ति की ताजगी और सहजता के लिये तो महत्वपूर्ण है ही किन्तु इसका सबसे बडा योगदान मानव-मन की एकता के क्षेत्र मे है। जिस धर्मनिरपेक्षता, जाति-सम्प्रदाय विहीनता, समाजवादी दृष्टि और मानवीयता का सदेश लोकसाहित्य युगो-युगो से देता आ रहा है, वह मानवजाति के इतिहास मे सदैव गरिमामय रहेगा। रामसा पीर का हिन्दू भी अपना आराध्य मानते हैं तो उनके थान पर मुसलमान भी अपनी श्रद्धा और अर्चना के पुष्प चढाते हैं। हिमालय से कन्या-कुमारी, बगाल से पजाब तक फैले विशाल भू-भाग के भारतीय लोकवाङ्मय मे जिस भारतीय आत्मा के ऐक्य के सुमागलिक दर्शन होते हैं, वह वरेण्य है। क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाले आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की अभिव्यक्ति बडी निर्भीकता के साथ लोक साहित्य मे होती है। लोक साहित्य सामाजिक विद्रोह व राजनैतिक क्रांति के एक सशक्त माध्यम व वाहन के रूप मे प्रत्येक युग में प्रयुक्त हुआ है। १८५७, १९४२, १९४७ के ऐतिहासिक व राजनैतिक परिवर्तन की घटनाओ का उल्लेख भारतीय लोक साहित्य मे बडी निर्भीकता के साथ हुआ है। इस सत्य को लोकसाहित्य के अध्येता भलीभाति

जानते हैं। अत मेरे विचार म अजस्र परम्परा के प्रवाह मे जीवित, मानव कठ पर प्रतिष्ठित, पर मनुष्य जाति के इस अलिखित कृतित्व की प्रासगिकता और प्रयोजनीयता प्रत्येक काल मे जीवित रहेगी।

वर्गीकरण व भावभूमि

राजस्थान के लोकगीतो के सग्रह और प्रकाशन का कार्य सम्भवत सर्वप्रथम खेताराम माली के एक लघु सग्रह "मारवाडी गीत सग्रह" से प्रारम्भ हुआ। यो राजस्थानी भाषा व साहित्य के विदेशी विद्वान व इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड ने लोकवार्ता सकलन का कार्य ई० सन् १८२६ मे अपने "एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान" से प्रारम्भ कर दिया था। इस पुस्तक मे केवल राजस्थानी लोकवार्ताओ का सकलन हुआ, गीतो का नही। किन्तु कर्नल टॉड के इस ग्रथ ने राजस्थान के विद्वानो को लोकसाहित्य विशेषकर लोकगीतो के क्षेत्र मे कार्य करने की प्रेरणा अवश्य दी।

इस सकलन के पश्चात मारवाडी गीत-सग्रह के नाम से अर्थ लाभ की इच्छा को लेकर जयपुर, कलकत्ता व दिल्ली से अनेक सकलन प्रकाशित हुये। इन सकलनो मे अश्लील व गन्दे गीतो का बाहुल्य रहा। इससे राजस्थानी का लोकगीत साहित्य बदनाम हुआ किन्तु धन-लोलुपता जाति और समाज के हित और प्रतिष्ठा की चिन्ता नही करती। उसमे स्वार्थ-साधना सर्वोपरी होती है। इस बदनामी के लिये भी राजस्थानी प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता ही उत्तर-दायी थे। खैर, यह विवाद अब बहुत पुराना पड गया है किन्तु इस घटना ने आग का काम किया। राजस्थानी सस्कृति, भाषा और साहित्य के भक्तो और निष्ठावान पुजारियों मे इसने नये प्राण फूके और इस दिशा मे स्वस्थ प्रयत्न हुये।

स्व जगदीशसिंह गहलोत द्वारा सकलित व सम्पादित "मारवाड के ग्राम-गीत" राजस्थानी लोकगीतो के क्षेत्र मे उनकी एक बहुत बडी देन मानी गई। स्व० सूर्यकरण पारीक, सर्व श्री नरोत्तम स्वामी, अगरचन्द नाहटा, डा श्याम परमार, डा. सत्येन्द्र, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने इसे स्वीकार किया है। उन्होने यह सकलन वि स १९८० मे (१९२३) प्रकाशित करवाया था। "मारवाड के ग्राम गीत" राजस्थान के लोकगीतो की पहली कृति थी जिसे

विद्वानो ने स्वस्थ और सुरुचिपूर्ण माना। सन् १९२३ तक लोक-गीतो के अध्ययन का जो स्तर था वह इस सकलन मे विद्यमान था। स्व गहलोतजी ने सर्वप्रथम लोकगीतो के सग्रह व सम्पादन की बानगी प्रस्तुत कर, दिशा-सकेत किया।

सवत् १९८६ मे जैसलमेर के साहित्य-प्रेमी मेहता रघुनाथसिंह ने 'जैसलमेरीय सगीत रत्नाकर' के नाम से वहाँ के गेय-पदो का एक सग्रह प्रकाशित किया। जोधपुर निवासी श्री सरदारमलजी थानवी ने "मरुधर गीत-माला" शीर्षक से मारवाडी लोकगीतो के पाच ट्रैक्ट प्रकाशित करवाये। यह प्रकाशन सन् १९३० म हुआ।

फिर राजस्थानी लोकगीतो के क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठ योगदान बीकानेर के विद्वान त्रय स्व सूर्यकरणजी पारीक, नरोत्तमजी स्वामी और ठाकुर रामसिंहजी का है। इन्होने राजस्थान रिसर्च-सोसाइटी, कलकत्ता से 'राजस्थान के लोक गीत' सग्रह दो भागो म सन् १९३८ मे प्रकाशित करवाये। इन सकलनो म सर्वश्री मुरलीधर व्यास और गणपति स्वामी का भी सहयोग रहा। विद्वान सम्पादको ने इन सग्रहो म राजस्थानी लोक-गीतो का तात्विक विवेचन किया है– उनके साहित्यिक सौन्दर्य और राजस्थान के सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक निरूपण कर इन सग्रहो को अत्यन्त उपयोगी बनाया है। यह सग्रह एक प्रकार से समयानुकूल व पूर्णरूपेण सुन्दर रहा।

स्व नागरमल गोपा, श्री पुरुषोत्तम मेनारिया, रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत, डूगरपुर के उमाशकरजी, श्री मनोहर शर्मा (बिसाऊ) श्री सीतारामजी लालस (मथाणिया), डा कन्हैयालाल सहल, रावत सारस्वत, श्री पतराम गौड, श्री जनार्दनलाल नागर, देवीलाल सामर प्रभृति विद्वानो ने राजस्थानी लोकगीतो के सग्रह, अध्ययन व प्रकाशन के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

राजस्थान के लोकगीतो के क्षेत्र मे हुये अब तक के कार्यों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि एक प्रयोजन से दी गई है। राजस्थानी लोक-साहित्य मे गति और रुचि रखने वाला विद्वद्-समाज जिसकी दृष्टि अर्वाचीन और वैज्ञानिक है, इस सत्य को स्वीकार करेगा कि राजस्थानी लोकगीतो के उपर्युक्त प्रकाशनो मे लोकगीत-शास्त्र की वैज्ञानिक अनुसधान दृष्टि का अभाव रहा है। उनका वर्गीकरण वैज्ञानिक नही रहा, उनका नृवश विज्ञान और समाज शास्त्र को लेकर समुचित अध्ययन नही हुआ। इन सग्रहो म कुछ तो अपने वाच्यार्थ मे सग्रह-मात्र ही हैं।

समूचा भारतवर्ष लोकगीतो की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न देश है किन्तु राजस्थान इस दृष्टि मे और भी धनी प्रान्त है। यहाँ के लोकगीतों मे विचारो की जो सम्पन्नता, भावना का जो सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का जो माधुर्य है वह भारत के अन्य प्रान्तो के लोकगीतो मे प्राय नही है। यों लोकगीता की एक सामान्य प्रकृति है—उनमे एक-सूत्रता और समरूपता होती है। गुजराती, बिहारी, भोजपुरी गीतो मे वे कल्पनायें और अभिव्यजनायें मौजूद हैं जो राजस्थानी के गीतो मे है। उपमान और उपमेय भी समान हैं किन्तु इस समरूपता के होते हुए भी एक ऐसा वैविध्य, एक ऐसा पृथकत्व उनके गीत-सौन्दर्य और भाषा लालित्य मे है कि हम उन्हें अन्य भाषाओं के लोकगीता से कुछ पृथक रखना ही पड़ता है। "कुरझा" राजस्थानी लोकगीत भी है और "कुझडलीरे" गुजराती लोकगीत भी है। किन्तु दोनो की अभिव्यक्ति की मार्मिकता मे अन्तर है। बेटी की विदाई पर उत्तर प्रदेश का एक गीत है—"ऐमन बपैया घर छोडिब बेरी, बहुवा चली" किन्तु राजस्थानी लोकगीत "ओलू" मे जो गीतिमय हृदय-स्पर्शिता है—करुणा है, वह उसमे नहीं—"थारो इतरो बावोसा रो लाड, कोयलडी सिध चाली"। इस प्रकार अन्य भाषाओं के लोकगीतों से अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि राजस्थानी लोकगीत साहित्य की एक अपूर्व निधि है—गौरव है।

राजस्थानी लोकगीतों की भावभूमि बड़ी व्यापक है। जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं—पक्ष नही जिस पर राजस्थानी लोकगीत न मिलते हों। व्यक्ति का पारिवारिक जीवन और धार्मिक जीवन सभी कुछ राजस्थान के लोकगीतो मे परिवेश मे समाविष्ट है। प्रकृति का आदिम मानव के जीवन से अनन्त सम्बन्ध रहा है। वह उसकी गोद मे पला-खेला है—रोया है, हंसा है। प्रकृति की सुकुमारता और कठोरता, संगीत और रुदन दोनो—उसके जीवन मे हैं और इसीलिए आदिम मानव और प्रकृति एकरस हो गये हैं। राजस्थानी किसान ने बादल के गीत गाये हैं—पुरवा और सुरया पवन के गीत गाये हैं। बिजलियों के सौन्दर्य को अपने गीतो मे बाधा है। सूरज, चाद और तारे उसके गीतों के मुख्य उपकरण हैं—जीवन की प्रेरणायें हैं। वे लोकजीवन की करुणा और सरस अभिव्यक्ति के सबल माध्यम बनकर लोकगीतो मे अवतरित हुये हैं—

सूरज ऊगे, सूरज राज मोडो सो उग ज्याय
हां, श्रो राजा, मोडो सो उग जाय
चढ़ती बाई नें होसी सामो तावडो ।

बेटी मुगराल के लिये विदा हो रही है । मा को भय है कि धूप मे बेटी को तकलीफ होगी—कोमल-सी बालिका कुम्हला जायेगी । सूरज राजा से वह प्रार्थना कर रही है—हे सूरज राजा, तनिक विलम्ब से निकलना—मेरी दूधोन्हाई बेटी आज मुगराल जा रही है—सामने रहे तो धूप हो जायेगी । प्रकृति के साथ यह तादात्म्य और अधिकार भाव राजस्थानी लोकगीतों मे दृष्टव्य है ।

पावडलो गयो भवरजी गढ गिरनार श्रो रसीला
कोई किरत्या तो झुक आई रे गढ कांगरै

विरहिणी प्रिय की प्रतीक्षा में रतजागरण कर रही है—पलक पावडे बिछाये । याद गढ तक ऊचा चला गया है, किरत्या (नक्षत्र) गढ के कगूरो तक ढल गई हैं । किन्तु प्रियतत नही आये ।

राजस्थानी लोकगीता मे स्थानीय वनस्पति का भी अच्छा वर्णन हुआ है—केर, खेजडी, पीपल, बड, नीम आदि को उपमा और कही-कही रूपक के रूप म लोकगीता में बाधा गया है । चमेली, मोगरा, हजारा, गुलाब आदि फूल उपमान और उद्दीपन बनकर इन लोकगीतो मे आये हैं । केला, अनार, नीबू, आम, नारगी, दाख आदि फल शृ गार वर्णन के उपमान बने है । इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति का विराट रूप राजस्थानी लोकगीता मे चित्रित हुआ है ।

राजस्थानी प्रेमिकाओ, प्रियतमाओ और विरहणियो ने कुरजा कौवा, सुश्रा, कोयल, पपीहा, हस, सारस, सोनचिडी आदि को अपनी धर्म की बहिने बनाकर अपना सुख-दुःख कहा है—अपने प्रियतम को इनके साथ सन्देश भेजा है । कभी-कभी वे इनसे नाराज भी हुई हैं—इन्हे कोसा भी है—उपालम्भ भी दिये हैं किन्तु इन सम्बन्धो म समता की भावना है—मानवीय सवेदना है । प्रकृति के अतिरिक्त जीवन के यथार्थ का भी बडा सजीव चित्रण इन लोकगीता मे हुआ है । परिवार इन गीतो की केन्द्रभूमि है । मा-बाप, भाई-बहिन, भावज, सास-ससुर, ननद, देवर, पति के अन्तर और बाह्य को—परस्पर सम्बन्धो को बडी यथार्थ अभिव्यक्ति इन गीतो म हुई है । कलह, उपालम्भ,

ताने, आशीर्वाद, प्रेम, विरह, सुख-दुःख, सहयोग, सहानुभूति—यह पारिवारिक जीवन के यथार्थ है किन्तु यह सब आदर्श की ओर उन्मुख। परिवार के सगठन को मजबूत बनाने वाली—कही कड़ियाँ कमजोर नही होतीं—टूटती नही। आदिम समाज मे परिवार सामूहिक जीवन का अनिवार्य आधार है। काम और शृगार का इन गीतो मे खुलकर के वर्णन हुआ है। किन्तु यौन-सम्बन्धो की स्वच्छता को वहा पर भी स्वीकृति नही। पातिव्रत्य और निर्मल प्रेम का वर्णन ही सर्वत्र रहा है।

राजस्थानी लोकगीतो मे वात्सल्य और शृगार का वर्णन अधिकता से हुआ है। लोरियाँ, हालरे, वात्सल्य रस प्रधान है। इनमे मा ने अपने शिशु को अच्छा नागरिक बनने का उद्बोधन भी दिया है। वीर लोरियो मे मा अपने शिशु-पुत्र का वीर योद्धा के रूप मे स्वप्न देखती है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' के सिद्धात मे विश्वास रखते हुए वह उसे वीर पुरुष देखना चाहती है। ऐसा वीर जो शत्रुओ का मुकाबला कर सके—अपनी जन्म भूमि की रक्षा कर सके, अपने खेतो को बचा सके।

राजस्थान के लोकगीतों का परिवेश बड़ा व्यापक है। इतना ही व्यापक जितना हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का। जीवन का अस्तित्व श्रम पर आधारित है। सामूहिक प्रगति भी समूह के श्रम पर टिकी है। अत श्रम की प्रतिष्ठा और महत्व को लेकर भी अनेक लोकगीत रचे गये। यो आदिम मानव जाति का कोई कार्य सगीत के बिना नही होता था—उसका सम्पूर्ण जीवन ही सगीत की झकार था। पशुओ को चराते समय के गीत, श्रम के गौरव को चित्रित करते हैं—

कड़वी काटेनी ओटियार
यू म्हारे जोडी रो जवांन
जोडी जुत जा रे जवांन

और

देवर मैं भोजाई बावलनी दातलियो
दूधांरा पियाकड़, देवरजी, आवण दो दांतलियो
दांर्धारी पियाकड़, भावज, आवण दो दांतलियो
सासू रा भूयोडा, देवर आवण दो दांतलियो

उपरोक्त गीतप्रश राजस्थानी लोकजीवन के श्रममय पक्ष को प्रकट करते हैं। आदिम मानव की धार्मिक मान्यतायें, शकुन और अपशकुन भी लोकगीतो मे चित्रित हुये है। किन्तु इनकी एक विशेषता है और वह यह है कि इन लोकगीतो मे व्यक्ति अपने अस्तित्व को सामूहिक जीवन मे विलीन कर जीता है---उसकी लोकदेवताओ से प्रार्थना और कामना व्यक्ति के सुख-दुख के लिये न होकर समूचे समाज के लिये होती है। भैरूजी, विनायकजी, शीतलामाता, भवानी आदि देवी-देवता समग्र लोकजीवन के अधिष्ठात्र देवी-देवता हैं। इसी प्रकार उत्सव और त्योहारो के गीतो मे भी समूह के जीवन का हर्ष और उल्लास व्यक्त हुआ है। इन गीतो के अध्ययन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि आदिम मानव समाज को छोडकर जीने की कल्पना ही नही करता।

राजस्थानी लोकगीतो की विषयवस्तु की उपरोक्त चर्चा के पश्चात मैं इसी पृष्ठभूमि मे उनके वर्गीकरण का प्रसग लेना चाहूँगा। मैंने इस निबन्ध के प्रारभ मे एक स्थान पर लिखा है कि यद्यपि राजस्थानी लोकगीतो के अनेक सकलन अब तक प्रकाशित हुये हैं और अनेक विद्वान सम्पादको ने राजस्थानी लोकगीतो का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु 'लोकगीतो के वर्गीकरण' को लेकर कोई एकमत नही है। डा० स्वर्णलता अग्रवाल, जिन्होने राजस्थानी लोकगीतो के अध्ययन पर शोध प्रबन्ध लिखकर राजस्थान विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्ति की, ने वर्गीकरण के दो आधार माने हैं—एक शैली की दृष्टि से और दूसरा गायको की दृष्टि से। इस प्रकार शैली की दृष्टि से एकाकी गीत, नृत्य गीत, नाट्यगीत और सामूहिक गीत-यह चार प्रमुख प्रकार होते है और गायको की दृष्टि से पुरुष गीत, नारी गीत और बालक बालिकाओ के गीत-यह तीन वर्ग हैं। अन्त मे उन्होने भी अपने प्रबन्ध मे विषयानुसार लोकगीतो का वर्गीकरण किया है—

१ सस्कार सबधी गीत
२ व्यावसायिक गीत
३ अव्यावसायिक गीत और
४ वैलासिक गीत

श्रीमती अग्रवाल का यह वर्गीकरण काफी वैज्ञानिक और समीचीन है किन्तु ऐसे लोकगीत फिर भी बच जाते हैं जो इनमें से किसी भी वर्ग मे नही आते। प्रस्तुत लेख मे मैंने राजस्थानी लोकगीतो का एक सरल वर्गीकरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस वर्गीकरण मे किसी सिद्धात अथवा पूर्वाग्रह का

आग्रह नही है—मेरी अपनी सुविधा और लोकगीतों के अध्ययन मे रुचि रखने वाले पाठकों की सुबोधता के लिये ही मैंने ऐसा किया है। यह वर्गीकरण निम्नानुसार है

१ लोक देवी-देवताओ के गीत
२ सस्कारो के गीत
३. उत्सव व त्योहारो के गीत
४. परिवार के गीत
५ बालक-बालिकाओ के गीत
६ व्यवसायी गायको के गीत (ऐतिहासिक और प्रेमाख्यान)
७ विविध (ऐसे गीत जो उपरोक्त किसी वर्ग मे नही रखे जा सकते)

लोकगीतो मे आलोचको और अध्येताओ को यह वर्गीकरण कहाँ तक मान्य होगा, कह नही सकता। यो यह मेरा सर्वथा नवीन अनुसधान भी नही है।

अब अपने निबन्ध के उपसहार के पूर्व डा० हजारीप्रसाद के शब्दो को दोहरा-कर मैं राजस्थानी लोकगीतो के साहित्यिक सौन्दर्य, उनके काव्य-तत्व पर भी दो शब्द कहना चाहूँगा। डा० द्विवेदीजी का कथन है,—'लोकगीतो की एक एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धायें, खण्डितायें और धीरायें निछावर की जा सकती हैं। क्योंकि ये निरलकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलकार से लदी होने पर भी निष्प्राण हैं।' यह उक्ति यो सभी लोकगीतो पर लागू होती है किन्तु राजस्थानी लोकगीतों मे यह सत्य अधिक मूर्त हुआ है। इनमे काव्य के सभी रसो की निष्पत्ति हुई है। हास्य, करुण, शृगार व वात्सल्य के अतिरिक्त राजस्थानी लोकगीतो मे वीर रस को महत्व दिया गया है। राजस्थान क्योंकि वीरभूमि रहा है—यहाँ का इतिहास वीर आख्यानो से परिपूर्ण है, शौर्य, बलिदान और साहस की गाथायें इसके कण-कण मे अकित हैं। अत लोकगीतो मे राजस्थानी जीवन के इस पक्ष की उपेक्षा कैसे होती ? तलवार की टकार और पायल की झकार दोनो को राजस्थानी गीतो मे समुचित स्थान मिला है।

शृगार के दोनो पक्ष-वियोग और सयोग, नख-शिख वर्णन आदि के उपमान और उपमेय—सभी शुद्ध शास्त्रीय काव्य की भाति वर्णित हुए हैं। आलोचक स्व० शुक्लजी ने काव्य की जो यह परिभाषा दी है कि 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबध की रक्षा तथा

निर्वाह होता है वह राजस्थानी लोकगीतो पर अक्षरश: लागू होती है। यह सच्चे "काव्य" के रूप मे प्रकट हुये हैं। इनका ऋतुवर्णन, बारहमासा रीतिकालीन किसी शृगार कृति से कम नहीं।

अन्त मे राजस्थान के लोकगीतो के क्षेत्र मे कार्य करने वाले विद्वानों से एक विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि स्व० सूर्यकरणजी पारीक और स्व० गहलोतजी ने इस दिशा मे जो परम्परायें प्रारम्भ की थी, उनकी शृखला टूटने नही पाये। विगत वर्षों मे इस ओर विद्वानो ने काफी कार्य किया है। मरु भारती, परम्परा, मरुवाणी, लोक सस्कृति और वरदा आदि पत्रिकाओं के द्वारा भी इस क्षेत्र म कार्य हो रहा है। अधुनातन दृष्टि से भी राजस्थानी लोकसाहित्य का अध्ययन और शोध हुई है किन्तु यह आयाम पर्याप्त नहीं। लोकसाहित्य की अनन्त निधि अभी भी लोकमानस मे छिपी पडी है—उसे प्रकाश की आवश्यकता है—उसका लिपिबद्ध होना जरूरी है। यो एक विद्वान ने कहा है कि लोकसाहित्य लिपिबद्ध होकर अपनी आत्मा को खो देता है—उसका सौन्दर्य और माधुर्य लोककण्ठ मे रहने मे ही है किन्तु लोकमानस की इस बौद्धिक धरोहर का सरक्षण उसे अकित और सग्रहीत करके ही किया जा सकता है। रशियन लोकसाहित्य के अध्येता वाई एम शोकोलव ने कहा है कि लोकसाहित्य के अध्ययन, शोध और अन्वेषण के लिए "लोक सस्कृति समाज" की स्थापना की आवश्यकता है। इस कार्य के लिए प्रान्तीय सरकार का स्वतन्त्र अकादमी स्थापित करनी चाहिये।

मैंने अपने इस निबंध मे ऊपर उल्लेख किया है कि कुछ प्रान्तो म इस प्रकार की सस्थायें काम कर रही है। राजस्थान मे ऐसी गैर सरकारी दो सस्थायें है—जो एकान्तत लोकसाहित्य के अध्ययन, शोध और प्रकाशन का कार्य करती हैं। लोकसस्कृति सस्थान, चोरूदा और लोककला मण्डल, उदयपुर। किन्तु आज राज्य सरकार द्वारा स्थापित अथवा मान्यता प्राप्त "राजस्थानी लोकसस्कृति अकादमी" की नितान्त आवश्यकता है—देखें राज्य सरकार और प्रदेश के लोकसाहित्यविद् इस दिशा मे क्या करते हैं?

परिप्रेक्ष्य व आयाम

पिछले कुछ दशको म विदशी एव (विशेष रूप से अग्रेज) भारतीय विद्वानो ने हमारे लोक वाडमय का बडी ही रुचि और गहराई के माथ अध्ययन किया है। भारतीय लोकगीत साहित्य का और भी अधिक। हमारे सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सास्कृतिक जीवन से लोकगीत साहित्य को सम्बद्ध कर मूल्यावन हुआ है। उसके कला पक्ष और रचना प्रक्रिया क तात्विक अध्ययन की ओर भी दृष्टि गई है। फलत इस साहित्य के ऐसे अनेक नूतन सदर्भ और परिपेक्ष्य प्रकाश मे आये हैं जो हमारे जातीय जीवन की सास्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओ को सही रूप मे समझने मे अत्यन्त सहायक हुये है। इस अध्ययन ने हमारे अनेक सभ्रमो का दूर किया है। जीवन की अजस्र साहित्यिक और सास्कृतिक धाराओ का मूल उद्‌गम कहाँ है? वह प्राणदा रसवन्ती कौन सी है जो हमारे शास्त्रीय और परिष्कृत कला, चिन्तन और धम का सजीवन किये हुए है? इन प्रश्नो के सहज उत्तर लोक वाड्‌मय के तात्विक विश्लेषण म विद्यमान हैं।

कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान सगीत नाटक अकादमी की ओर से जोधपुर म भारतीय लोक सगीत पर एक सगोष्ठि का आयोजन हुआ था। इस अकादमी का कार्य क्षेत्र या नाटक और सगीत ही है किन्तु समाज और साहित्य भी सापेक्षित हैं अत आयाजको ने लोक संगीत के तीनो पक्षों पर—सांगीतिक, साहित्यिक और सामाजिक परिचर्चा रखी थी। लोकगीत वाङमय के व्यापक और सर्वांग स्वरूप पर विद्वानो ने यहाँ चर्चा की। कुछ ऐसे निष्कर्ष भी निकले जो लोक साहित्य के चिन्तको और अध्येताओ के लिये उपादेय कहे जा सकते हैं। सभी विद्वानो की सहमति इन निष्कर्ष के सबध में आवश्यक नहीं है। किन्तु लोकगीत वाङमय के अध्ययन में नये क्षितिज, नई सभावनायें अवश्य सामने आईं। संगीत, लोक साहित्य और समाज शास्त्र के भारतीय विद्वानो और लेखकों ने

एक ही मंच पर बैठकर लोकगीत साहित्य के विविध परिप्रेक्ष्यों पर विचार विनिमय किया—यह एक अत्यन्त सौभाग्यमय संयोग था।

लोकगीतों का एक परिप्रेक्ष्य है—उनका सांगीतिक स्वरूप। लोकगीतों में संगीत, लोकगीतों को स्वरलिपि बद्ध करने की समस्या, शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत का तुलनात्मक अध्ययन, शास्त्रीय तालों व लोक सांगीतिक लयों का तुलनात्मक अध्ययन, लोक संगीत के उपेक्षित अंग आदि विषय इसी सांगीतिक स्वरूप से सम्बद्ध हैं। प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष का संगीत जाति संगीत था। राग संगीत जब अस्तित्व में आया तब लोक संगीत की धारा पृथक् रूप से प्रवाहित होने लगी। शास्त्रीय-संगीत के विद्वान लोक संगीत को आज पृथक् मानने लगे हैं—यह उचित नहीं है। शास्त्रीय संगीत ने लोक संगीत से ही प्राणशक्ति प्राप्त की है। विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय संगीत के शिक्षण के साथ लोक संगीत का पाठ्यक्रम भी रखा जाना चाहिये तभी लोक संगीत का तात्विक अध्ययन संभव हो सकता है और यह लुप्तमान निधि सुरक्षित रह सकती है।

लोक संगीत लयात्मक है। लोक संगीत की लयों से ही शास्त्रीय संगीत की तालों का उद्भव हुआ है। भारतीय लोक संगीत की लयात्मकता का विश्व लोक संगीत की शैलियों में प्रमुख स्थान है। शास्त्रीय संगीत की तालों को लोकगीतों पर थोपना उचित नहीं। लोकगीतों का स्वतंत्र लय विधान है। जब शास्त्रीय प्रयास प्रारम्भ होता है तो लोक-संगीत अपने प्राकृत माधुर्य और संगीत से च्युत हो जाता है। उसके सहज लयात्मक स्वरूप की ही रक्षा होनी चाहिये।

लोकगीतों को स्वरलिपि-बद्ध करने की कई अर्थों में महत्ता है। भावी पीढ़ी स्वरलिपि के द्वारा लोकगीत के संगीत स्वरूप को आसानी से समझ सकेगी। इसके द्वारा लोकगीतों का सांगीतिक स्वरूप सुरक्षित रह सकेगा। इस प्रकार लोकगीतों का शैक्षणिक और सामाजिक उपयोग भी संभव हो जायेगा। स्वरलिपि संगीत के स्वरों का भाषात्मक अथवा लयात्मक संकेत मात्र है। भारत में स्वरलिपि की विधि शास्त्रीय संगीत की परम्परा से हमें प्राप्त हुई है। हमारे यहाँ स्वरलिपि की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं—भातखण्डेजी की और विष्णु दिगम्बरजी की। लोकगीतों के लिए कौनसी उपयोगी हो सकती है? यह एक प्रश्न है। स्वरलिपि के लिए गीत का शुद्ध लिखित पाठ आवश्यक है। गीत के काव्य-स्वरूप का यहाँ कोई महत्व नहीं। लोकगीत शास्त्रीय तालों में

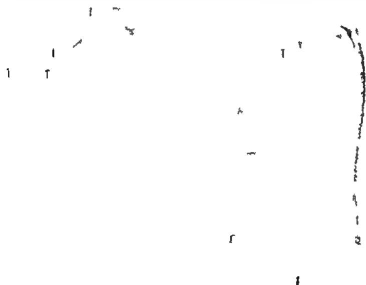
निबद्ध नहीं होते । स्वरलिपि के समय उनका परिपालन ठीक नहीं । तालों के स्थान पर केवल लयों का आश्रय लेना चाहिये ।

लोकगीतों के सांगीतिक पक्ष से कुछ और भी महत्वपूर्ण विषय जुड़े हुये हैं जैसे—पेशेवर गायकों की संगीत शैली, फिल्म संगीत का लोक-संगीत पर प्रभाव, हमारे लोक संगीत का अति आधुनिकता से खतरा आदि । लोकगीत का सांगीतिक परिप्रेक्ष्य अपने में अनेक संभावनायें लिये हुए है । इस पर गहराई से चिन्तन किया जाना चाहिये । हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लोकगीत साहित्य पर अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं । उनके साहित्य पक्ष पर तो बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु सांगीतिक स्वरूप पर सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचन देखने में नहीं आता । मूल रूप में तो लोकगीत रंजक संगीत ही है जो जन कण्ठ पर अधिष्ठित रहता है—उसके उस स्वरूप का वैज्ञानिक अध्ययन कर रक्षा की जानी चाहिये ।

लोकगीतों की छन्दात्मक प्रवृति, राजस्थानी लोकगीतात्मक कथायें, बगड़ावत, लोक भजनों की पृष्ठभूमि, लोकगीतों का कला पक्ष, लोकगीतों में प्रकृति आदि विषय लोकगीतों के साहित्यिक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत आते हैं । भाषा का सर्व प्रथम अनुभव आदिम मनुष्य को गीत के रूप में ही हुआ था । भावावेग एक सकल शरीरी प्रक्रिया है । जब यह सक्रिय होती है तो सर्व प्रथम कण्ठ से स्वर प्रस्फुटित होता है । यह स्वर, ताल और लययुक्त होकर गीत को जन्म देता है । अतः लोकगीत का मूल स्वरूप लय, ताल व स्वर-युक्त है, छन्दस्वरूप इसका जो भी है वह एतद् पश्चात की परिणित है । यह जनता की कविता है । अतः जो भी छन्दस्वरूप इसने लोकगीतकार (समाज) के मानस और कण्ठ में ग्रहण कर लिया वह अनायास ही कर लिया । उसका छन्दस्वरूप अवश्य है किन्तु वह शास्त्रीय मात्राओं और गणों में आबद्ध नहीं है, वह स्वतन्त्र है । शोध से यह सिद्ध हो सकता है कि शिष्ट साहित्य का छन्द भंडार लोकगीतों में ही अपने रस और शब्द का कहीं न कहीं समेटे हुए है । अतः साहित्यिक छन्द शास्त्र के दृष्टिकोण से इस विषय के अध्ययन का प्रयास व्यर्थ ही है । लोकगीतों के छान्दस् स्वरूप का इम्पैक्ट वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य पर अनुभव किया जा सकता है । साहित्यिक छन्द एक यत्नज प्रक्रिया है—लोकगीत स्वतः प्रसूत है । फिर भी कालान्तर में कुछ लोकगीतों ने कुछ स्वरूप धारण कर लिया । संभव है शिष्ट काव्य रचना

म रूपान्तर किया है। खेता के स्थान पर आज वह कारखानो म केन्द्रित हो रहा है। भविष्य में शायद और भी कुछ परिवर्तन आये। किन्तु सामूहिक जीवन के साथ लोकगीता की रचना चलती रहेगी।

लोकगीत वाङमय के ये कुछ आयाम और परिप्रेक्ष्य हैं। इस वाङ्मय का अध्ययन और शोध का कार्य तभी वैज्ञानिकता और पूर्णता लिए हुये होगा जब इनको विस्मृत नही किया जायेगा।



छन्दात्मक प्रवृत्ति

लोकगीतों की छन्द प्रवृत्ति के समीचीन अध्ययन के लिये कुछ मूलभूत प्रश्नों का यदि प्रारम्भ में ही समाधान ले लिया जाय तो मैं समझता हूँ, यह अध्ययन अधिक वैज्ञानिक और सरल हो जायेगा। प्रश्न है—लोकगीत क्या है? शिष्ट साहित्य के गीत और लोकगीत में परस्पर क्या साम्य और विभेद है? छन्द क्या है? गीत में इसकी क्या अनिवार्यता है? यह पृष्ठ-भूमि हमारे विषय के अध्ययन में बहुत ही सहायक होगी और विवेचन की परिधि को सुस्पष्ट तथा नियन्त्रित रखेगी।

आज तक लोकगीत की अनेक परिभाषायें और अर्थ दिये जाते रहे हैं। विश्व भारती के उड़िया विभाग के अध्यक्ष, डा० कुंजबिहारी दास ने लोकगीत के पारिभाषिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा है, "लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रभावात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रह कर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।" लोक साहित्य विज्ञान के विद्वान डा० सत्येन्द्र ने लोकगीत की परिभाषा इस प्रकार दी है, "वह गीत जो लोक मानस की अभिव्यक्ति हो, अथवा लोकमानसाभास भी हो, लोकगीत के अन्तर्गत आता है।" इस परिभाषा को पूर्ण रूप से समझ लेने के लिये लोकमानस के वैज्ञानिक स्वरूप को समझ लेना होगा। समूचा लोकसाहित्य लोक मानस की ही हृदय-रचना है। पिछले वर्षों में मनोविज्ञान-जगत में एक नये सिद्धांत की स्थापना हुई है और वह सिद्धान्त है 'उत्तराधिकरण का सिद्धान्त'। इस सिद्धान्त का अर्थ है कि मनुष्य दाय के रूप में अपने पूर्वजों से जन्म के साथ ही कुछ प्राप्त करता है। हमारी प्रवृत्तियाँ इस दाय का परिणाम है। यह प्रवृत्तियाँ मनुष्य के अवचेतन मानस में सक्रिय रहती हैं। इस मानस को सहज अवचेतना कहा गया है और यही सहज-अवचेतन हमारा लोकमानस है। पाश्चात्य लोकवार्ताविद्

मैरेट, जेम्स, फ्रेजर, मि ग्रैहम वैलेस, जेम्स ड्रेवर आदि ने किसी न किसी रूप में इस लोकमानस की सत्ता को स्वीकार किया है। डा सत्येन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा का अब अर्थ यह होता है कि लोकगीत में जन-समाज के विश्वास, परम्परायें और रीति रिवाज अभिव्यक्त होते हैं। और यह अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से सहज होती है। इसमें किसी भी प्रकार का कृत्रिम रचना-विधान नहीं होता। भारतीय लोक साहित्य के अन्य विद्वान यथा डा० श्याम परमार, डा० कृष्णदेव उपाध्याय और श्री जगदीश त्रिगुणायत आदि की लोकगीत सम्बन्धी मान्यतायें इस 'सहज अभिव्यक्ति' को ही प्रधानता देती हैं।

'लोकगीतों की छन्दात्मक' प्रवृत्ति विषय पर सीधी चर्चा करने के पूर्व इसी विषय से सम्पृक्त एक-दो प्रश्नों पर विचार कर लेना होगा। पहला प्रश्न है नागर साहित्य में गीत और लोकगीत में क्या पारस्परिकता है? पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय विद्वानों ने गीत की जो परिभाषायें दी हैं उनकी परिधि में लोकगीत भी पूर्ण रूप से आते हैं। गीत के सम्बन्ध में अर्नेस्ट राइस का मत है, "सच्चा गीत वही है जिसमें भाव या भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो, जो शब्द और लय के सामंजस्य से सूक्ष्म भाव को पूर्णतया प्रदर्शित करता है और जिसके पद-लालित्य एवं शब्द-माधुर्य से वह संगीतमयी ध्वनि निकलती है जिसे स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यक्ति कहते हैं।" हरबर्ट रीड के मतानुसार गीत उस रचना को कहते हैं जिसमें सूक्ष्म अनुभूति हो, अथवा इन अनुभूतियों की वे प्रतिक्रियायें हों जो एकान्त आनन्द से जागृत होती है।" भारतीय विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, डा० श्यामसुन्दर दास, महादेवी वर्मा आदि भी गीत में आत्माभिव्यक्ति, संगीतात्मकता, भावमयता, माधुर्य, संक्षिप्तता और मार्मिकता को प्रमुख रूप से स्वीकार करते हैं। चाहे उपर्युक्त मान्यतायें नागर साहित्य के गीतिकाव्य को ही दृष्टि में रखकर बताई गई हों किन्तु लोकगीत का भी यही स्वरूप है। उसमें भी यह लक्षण यथावत् विद्यमान रहते हैं। अन्तर एक ही है कि नागर साहित्य के गीत में ये सारे लक्षण यत्नपूर्वक जुटाये जाते हैं और लोकगीत में ये स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं। नागर साहित्य के गीत में लय, ताल और गति के नियामक कुछ निश्चित नियम होते हैं, गीतकार के लिये उनका पालन अनिवार्य होता है, जबकि लोकगीत में उन्मुक्त स्वच्छन्दता होती है, शास्त्रीयता का सर्वथा अभाव होता है। नागर-साहित्य के गीतों में सीमातीत

वैयक्तिकता होती है जबकि लोकगीत व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण लोकमानस की अभिव्यक्ति होते हैं। उनकी टेक, चरण-रचना, वस्तुनिर्माण, भावाभिव्यंजना आदि में शास्त्रीय चेतना के दर्शन नहीं होते।

इस संदर्भ में, एक और विवेचन भी आवश्यक है—गीत की रचना-प्रक्रिया। साहित्य की रचना-प्रक्रिया उसके सम्पूर्ण परिवेश को समझने में बड़ी सहायक होती है। लोकगीत और शिष्ट साहित्य के गीत की मूल रचना-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती क्योंकि दोनों का रचनाकार मनुष्य ही है। हाँ, लोकमानस और व्यक्ति मानस का अन्तर गीत के बाह्य रचना-स्वरूप में अवश्य अन्तर प्रस्तुत कर देता है। भावावेगों (Emotions) से ही गीत का जन्म होता है। विद्वान आज यह मानते हैं कि भाषा का सर्वप्रथम अनुभव आदिम मनुष्य को 'गीत' के रूप में ही हुआ था। भावावेग एक सकल शारीरी प्रक्रिया है। जब यह सक्रिय होता है तो सर्व प्रथम कण्ठ से स्वर स्फुटित होता है। यह स्वर, ताल और रूपयुक्त होकर गीत को जन्म देता है। इस भावावेग की सार्थक अभिव्यक्ति के लिये शब्दों का—दूसरे अर्थ में, भाषा का सहारा लिया जाता है। मानव के सुख-दुख का आवेग इस प्रकार अभिव्यक्ति पाता है। यही गीत की रचना-प्रक्रिया है। अब चूंकि आदिम मानव एक महनतकश इंसान था अतः शारीरिक सुविधा-असुविधा का प्रभाव उसकी गीत-रचना-प्रक्रिया पर पड़ा है। शिष्ट साहित्य के गीत की रचना-प्रक्रिया पर रचनाकार की शारीरिक प्रतिक्रिया कुछ भी नहीं होती।

अब एक और प्रश्न था जो अन्तिम है, समाधान लेकर हम अपने मूल विषय पर आ जायेंगे। छन्द से क्या अभिप्राय है, उसका मूल उद्गम कौनसा है और गीत में उसकी क्या अनिवार्यता है? यास्क मुनि ने 'छन्दांसि छादनात' लिखकर छन्द में छद् धातु ध्वनित की है। इस धातु के अर्थ में छन्द के अनेक अर्थ हैं। वैदिक साहित्य में मंत्र को छन्द कहा गया है। वेद के लिये भी छन्द शब्द का प्रयोग मिलता है। साहित्य-शास्त्र में किन्हीं छोटी-बड़ी ध्वनियों के व्यवस्थित सामंजस्य को छन्द कहा गया है। इस ध्वनि सामंजस्य के द्वारा प्रत्येक छन्द में एक लय उत्पन्न होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीलिये छन्द की परिभाषा इस प्रकार दी है—'छन्द वास्तव में बंधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढांचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है'। अब प्रश्न उठता है कि यह लय क्या है? नाद जिसे हमारे यहाँ परब्रह्म का पर्याय माना है और

वेद में जो वाव् शब्द से भी अभिहित हुआ है, की सुमयति और सुषमामय अभिव्यक्ति को लय कहा जाता है। यह लय भाषा के वर्णों और मात्राओं के माध्यम से व्यक्त-रूप ग्रहण करती है। अब स्पष्ट हो गया कि लय केवल बाह्य वस्तु नहीं है। वह हमारी आत्मा की संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। यही अभिव्यक्ति लय-रूप में छन्दों में प्रतिष्ठित होती है। वर्ण, मात्रायें, आरोह, अवरोह, यति आदि उस अभिव्यक्ति के बाह्य रूप-मात्र हैं।

उपर्युक्त विवेचन अब लोकगीतों की छन्द-प्रवृत्ति के अध्ययन को काफी सुविधाजनक कर देता है। आदिम मानव की प्रथम भावाभिव्यक्ति स्वर और लययुक्त रही है—अर्थात गीतमय रही है। इस प्रकार लोकगीत उतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य। लोकगीत का मूल स्वरूप लय, ताल और स्वरयुक्त है। छन्द-स्वरूप उसका जो भी है वह एतद् पश्चात् की परिणति है। वह जनता की कविता है अतः जो भी छन्द-स्वरूप इसने लोकगीतकार के मानस और कण्ठ में ग्रहण कर लिया, वह अनायास ही कर लिया। इसे वदों के छन्दों में ढूंढना इस सत्य से इन्कार करना है कि लोकगीतों की रचना वैदिककाल के पूर्व से होती आई है। लोकगीतों की छन्द-प्रवृत्ति को शिष्ट साहित्य की छन्द-पद्धति से विवेचित करना इस सत्य को उपेक्षित करना है कि लोकसाहित्य मानव का मूल और प्रथम सृजन है, शिष्ट साहित्य परवर्ती। शिष्ट साहित्य का आधुनिकतम वैज्ञानिक शोध-कार्य तो अब यह प्रकट कर रहा है कि वह सदैव अपनी हर विधा के क्षेत्र में लोक-साहित्य से जीवन, दर्शन और आकार ग्रहण करता है। *सारे वैदिक साहित्य के छन्दों का यदि लोकतान्त्रिक पृष्ठ-भूमि में* अध्ययन किया जाय तो शायद यह सिद्ध हो जाय कि गायत्री, उष्णिक, अनुष्टप, बृहती, त्रिष्टुभ आदि छन्द जो अक्षर-संख्या के आधार पर ध्वनि-सन्तुलन से निर्मित हैं, अपने में लोक गीतात्मक छन्द-प्रवृत्ति को समाहित किये हुये हैं। इससे यह अर्थ तो नहीं लगाया जाना चाहिये कि लोकगीतों में अनुष्टप्, गायत्री, उष्णिक आदि छन्द अन्तर्निहित हैं किन्तु लय और स्वर का प्राधान्य, विषमपादता, लघु और दीर्घ ध्वनियों सम्बन्धी शैथिल्य दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं—यह लोकगीत और वैदिक छन्दों की सादृश्यमूलकता है। वैदिक साहित्य में विद्यमान छन्द 'गाथा' लोकगीत से ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। गाथा का अर्थ गीत अथवा पद्य से है। ऋग्वेद में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। गीत का कर्तृरूप गाने है। अमरकोश के अनुसार

गीत और गान समानार्थक हैं। "गीत गानमिमे समे"। शास्त्र मे गीत के षडविध लक्षण भी माने गये हैं—

मुस्वर सरस चैव, सराग मधुराक्षरम्
सालकार प्रमाणं च, षडविधि गीतलक्षणम्

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि लोकगीतो की छन्द-प्रवृत्ति के कुछ लक्षण ऋग्वेद मे उपलब्ध होते हैं। यह तो निश्चित है कि लोकसाहित्य की धारा वैदिक साहित्य से बहुत प्राचीन है, इसलिये वेदो मे लोकगीतो के छन्द-विधान को ढूढना असगत है। वेदो का छन्द-विधान तो लोकगीतो से ही प्रभावित प्रतीत होता है। ऋग्वेद के छन्द ध्वनियां या अक्षरो की गिनती के आधार पर ही रचे गये हैं। इनमें ध्वनि-सतुलन का आधार केवल अक्षर-सख्या है। अक्षर चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ, ह्रस्वो की सख्या अधिक हो या दीर्घों की, कहीं ह्रस्व हो, कहीं दीर्घ—इन नियमों का विचार वैदिक छन्दो मे नही किया गया। इनकी पाद-व्यवस्था भी ढीली है। ऋग्वेद मे साधारणतया तीन और चार पाद वाले छन्द हैं परन्तु कहीं-कहीं पर एक, दो और पांच पाद वाले छन्द भी मिलते हैं। अक्षर-विधान भी वैदिक छन्दो मे कठोरता से नही निभाया गया है। किसी पाद मे कम अक्षर हैं तो किसी मे अधिक लोकगीतो की छन्द-प्रवृति का यदि सूक्ष्मता से अवलोकन करें तो यही वैदिक छन्द-प्रवृति उनम परिलक्षित होती है।

लोकगीतो की छन्द रचना स्वत प्रसूत (Spontaneous) है। प्राकृत भावा-वेगों की सस्वर अभिव्यक्ति ने अपने आप ही एक रूप ग्रहण कर लिया। यह गीत ही उसका आदि छन्द बन गया। स्वत प्रसूति की अनुपस्थिति मे मनुष्य ने इसका अनुकरण करने की सलज्ज चेष्टायें की और इस 'ध्वनि-सामञ्जस्य' की प्राप्ति क लिये उसने विशेष नियम बनाये। बस, यही से छन्द अपने मूलरूप लोकगीत से पृथक् होगया और उसने अपने ऊपर कृत्रिमता का आवरण डाल लिया। छन्द का एक पृथक् शास्त्र बन गया। लोकगीत अन्तत इस शास्त्रीयता अथवा कृत्रिमता से मुक्त रहा है।

डा कृष्णदेव उपध्याय के शब्दो मे यह कहा जा सकता है—'लोकगीत जगल के फूल की तरह स्वतन्त्र वातावरण में उत्पन्न होते हैं और उसी वातावरण मे इनका विकास भी होता है। ये छन्द-विधान के बन्धनो से परे होते हैं।

लोकगीतकार गीत की रचना करते समय छन्दशास्त्र के नियमों को याद करके नहीं बैठता और न वह जगण, रगण और सगण की भूल भुलैया में ही पड़ता है। न तो वह मात्रिक और वार्णिक छन्दों के चक्कर में पड़ता है और न वह भिन्न-तुकान्त कवियों की रचना-प्रणाली की ही चिन्ता करता है। उसके हृदय में जो भाव-धारा अनायास आ जाती है, उसे वह स्वान्तः सुखाय प्रकाशित करता है। इसलिये लोकगीतों में छन्द-विधान का कोई निश्चित नियम नहीं दिखाई पड़ता।' प. रामनरेश त्रिपाठी भी लोकगीतों में केवल लय मानते हैं, छन्द नहीं। पाश्चात्य लोकवार्ताविद कैनेथ रिचमंड ने अपने ग्रंथ Poetry and the people में इस विषय का विवेचन इस प्रकार किया है— 'The great virtue of Folk-poetry was its utter lack of self consciousness in matters of metres, style and diction अर्थात् लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें छन्द, शैली और सरचना के विषय में आत्म-चेतना का सर्वथा अभाव रहता है।

इस प्रकार यह तो निर्विवाद है कि लोकगीतों में शास्त्रीय छन्दों के रूपों को ढूँढना निरर्थक और असगत है, फिर भी उनमें छन्दधर्मी प्रवृत्ति है अवश्य। इसका प्रमाण यह है कि लोकगीतों में शिल्प की विविधता मिलती है। कुछ लोकगीत प्रबन्धमय होते हैं और कुछ स्फुट। प्रबन्धमय गीतों में कोई कथा चलती है, इसलिये उनमें स्वरों के स्थान पर शब्द-गौरव बढ़ जाता है। स्फुट अथवा मुक्तक गीतों में स्वर गौरव की प्रधानता रहती है, शब्द बहुत कम रहते हैं। अस्तु, मुक्तक गीत का कलेवर भी लघु और सक्षिप्त होता है। इनमें एक टेक होती है और इसकी आवृत्ति प्रत्येक एक या दो चरणों के पश्चात् होती रहती है। इन चरणों में मात्राओं की संख्या में कोई नियमितता नहीं रहती। उदाहरण के लिये राजस्थान का लोकगीत 'घुडला' देखिये—

घुडलो घूमेलाजी घूमेला
घुडले रे बांधो सूत—घुडलो
सवागण बारे आय— „
प्रतापजी रे जायो पूत— „
सवागण बारे आय— „
तेल बलूँ घी साय— „

उपर्युक्त लोकगीत की छन्द-रचना से स्पष्ट होता है कि इसमें प्रत्येक पाद के पश्चात् टेक की पुनरावृत्ति होती है और चरणों में मात्रा-संख्या का कोई स्थिर नियम नहीं है। किसी पाद में सात मात्रायें हैं तो किसी में नौ। लघु और दीर्घ ध्वनियों के व्यवस्था-क्रम में भी कोई समानता नहीं है। पादान्त में तुक भी नहीं मिलती। पूरे गीत में एक संगीतात्मक संघात (Musical accent) विद्यमान है। इस रचना में लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति हुई है। अब इसे लोकगीत के अतिरिक्त किस शास्त्रीय छन्द से नामकृत करें। इसे गीतछन्द ही कह सकते हैं।

प्रबन्धमय लोकगीत में रचना-शिल्प कुछ भिन्न होता है। इसमें स्फुट गीत की भांति टेक की आवृत्ति अति शीघ्र नहीं होती। कभी-कभी पादों की संख्या का क्रम भी ४ और ६ तक चला जाता है। ऐसे गीतों में एक कथानक निहित होने के कारण स्वर-गौरव के स्थान पर शब्द बाहुल्य होता है। गीतों में भी पादान्त में कभी-कभी तुक का अभाव रहता है। राजस्थानी लोकगीत काछबा, बीजा सोरठा आदि ऐसी रचना-शिल्प के उदाहरण हैं।

लोकगीतों के शिल्पगत इन दोनों रूपों के उपरोक्त विश्लेषण के पश्चात् यही धारणा बनती है कि लोकगीतों का छन्दशास्त्रीय कोई स्थिर रूप नहीं है। वे सहज, स्वछन्द, परम्परायुक्त, नूतन और मौलिक हैं। इनमें तुक का अभाव रहता है, छन्दोभंग दोष रहता है। यह सब गेयता के कारण परिलक्षित नहीं होते।

लोकगीतों के छन्द-विधान का अध्ययन हमें एक और दृष्टिकोण से भी करना चाहिये—वह है उनका गेयत्व। गेयत्व के आधार पर लोकगीतों के दो प्रकार किये जा सकते हैं। वे हैं—समाज द्वारा गाये जाने वाले लोकगीत और पेशेवर गायकों द्वारा गाये जाने वाले लोकगीत। जो गीत समाज द्वारा गाये जाते हैं वे अपना मूल स्वरूप प्रायः नहीं खोते। हां, एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ पर अवतरित होने की परम्परा में उनके आदि मूलस्वरूप में कुछ अन्तर अवश्य आता है। मांगलिक और आनुष्ठानिक लोकगीत ऐसे ही हैं जो अपने छन्द-स्वरूप को सुरक्षित रखे हुये हैं। इनके गाने वाले समाज में शास्त्रीय बोध नहीं होता। वे अपने सहज स्वभाव और आनन्दातिरेक से ही इन्हें गाते हैं। पेशेवर गायकों को शास्त्रीय-बोध रहता है, उनमें कलात्मक चेतना होती है।

निरन्तर अभ्यास से एक कलात्मक पद्धति का आविर्भाव हो जाता है और यह कलात्मक शास्त्रीय पद्धति स्वरों के आरोह-अवरोह, मीड और तोड, वाद्ययंत्र, लोकगीत के छन्द-स्वरूप में परिवर्तन कर देती है। इसलिये उनके स्थायी छन्द-स्वरूप को समझना और भी कठिन होता है। अब यदि लोकगीतों के लिप्यांकित स्वरूप का अध्ययन कर उनके छन्द-स्वरूप को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय तो ज्ञात होता है कि उनकी भाषा सम्बन्धी मात्रायें संगीत की लय-प्रधान मात्राओं की अनुगामिनी हैं, छन्द-शास्त्रीय लघु अथवा दीर्घ-ध्वनियों की नहीं। राजस्थानी लोकगीत 'भणत' की कुछ पंक्तियाँ इसे स्पष्ट कर देंगी—

गहरो रैं मीठो, तू बोल भँवरा
मीठो रैं वाणी, पन बोल भँवरा
कोयल वाणी, ए बोल भँवरा

इन पंक्तियों में प्रयुक्त रो, रैं, ठी, आदि दीर्घ ध्वनियाँ होते हुये भी लघु ध्वनियों के रूप में उच्चारित होती हैं। लोकगीत में लयात्मक प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण ही ऐसा होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन हमें इस निष्कर्ष की ओर प्रवृत्त कर रहा है कि लोकगीतों में कोई स्थिर और शास्त्रीय छन्द स्वरूप नहीं है। फिर भी बात सर्वांश में ऐसी नहीं है। मैथिली, भोजपुरी और उत्तर प्रदेश के लोकगीतों में भी कुछ निश्चित छन्द-स्वरूप मिलते हैं। यह अवश्य है कि इनका शास्त्रीय नामकरण शिष्ट साहित्य से ही हुआ है। यह छन्द लोककाव्य में आदिकाल से ही प्रचलित थे। आल्हा, बिरहा, सोहर, झूमर आदि छन्द उक्त प्रदेशों के लोकगीतों में मुख्यरूप से पाये जाते हैं। इसी प्रकार राजस्थान के लोकगीतों में भी दो शास्त्रीय छन्द मिलते हैं—वे हैं दोहा और सोरठा। यह दोनों छन्द प्रायः पेशेवर गायकों के गीतों में ही उपलब्ध होते हैं। लोकगीतों में प्रयुक्त इन शास्त्रीय छन्दों का छन्द-विधान शास्त्रीय कठोरता लिये हुये नहीं है। श्रावण की तीज और गणगौर के पर्व पर गाये जाने वाले एक लोकगीत के दोहों का छन्द-विधान दृष्टव्य है—

राजन चाल्या चाकरी, काथे घर बन्दूक
के तो साथे ले चलो, के कर डारो दो टूक
अगर चदन की ओढ़णूं, ओढ़ू बार त्योहार

पिवजी कहे गोरी ओढ़ले, म्हारी सासू फूलस्या जाय
च्यार खूट की बावडी, जो मे सीतल नीर
आपा रलमिल न्हाय सा, म्हारी लाल नणद रा वीर

उपर्युक्त दोहो मे शास्त्रीय दोहा छन्द के प्रत्येक पाद की मात्राओ, यति, लघु, दीर्घ आदि क्रम का कठोरता से पालन नही हुआ है। किन्तु राजस्थानी लोकगीतो मे कुछ ऐसे गीत भी मिलते हैं जिनमे प्रत्येक दोहा मे शास्त्रीय कठोरता बरती गई है। एक शिकार गीत 'सुवटियो' मे दोहे का शास्त्रीय रूप देखिये—

कालो घोडो कूदणो, पातलियो असवार
सेल मरूके हाथ मे, चढियो राव खगार
सूरा जणे तो धार जण, मत जणजे चालीस
ए चारू रण भजणा, वे चारू चालीस
तू जा भूडण सिकडे, म्हैं जाऊं घण ठट्ट
मैंलों रोवाऊं कामणी, मास बिकाऊं हट्ट

दोहे की भाँति ही राजस्थान के पेशेवर गायको के लोकगीतो मे सोरठा छन्द भी मिलता है। सोरठे मे भी दोहे की भाँति छन्द-शास्त्र सबधी नियमो का सर्वत्र पालन नही हुआ है। इसका कारण मैं ऊपर स्पष्ट कर आया हूँ कि लोकगीतो मे प्रयुक्त इन शब्दो की मूल प्रकृति छन्दात्मक नहीं होकर सगीतात्मक है। गायक अपने सगीत की सुविधा और सौन्दर्य के अनुसार इनमे रूपान्तर कर लेते हैं।

विषय और भावाभिव्यजन की दृष्टि से कुछ राजस्थानी लोकगीतो को भी विशेष नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिये घूमर, सूवर, जलो, बारहमासा, गणगौर आदि। ये नाम लोकगीतो के विशेष वर्गों को प्रकट करते हैं। सभव है, यह नामकरण लोकगीत की विषय-वस्तु के अनुसरण में ही हुआ हो किन्तु इनका रचनाशिल्प भी पृथक-पृथक है। इसलिये यह भी आसानी से कहा जा सकता है कि ये विशेष छन्द-गीत हैं। इन गीतो मे, कुछ मे द्रुतलय होने के कारण छोटी-छोटी पंक्तियाँ होती हैं और कुछ मे निराशा, विराग और वियोगजन्य पीडा को अभिव्यक्त करने के लिये लम्बे पाद होते हैं। इनकी लय भी विलम्बित होती है।

लोकगीतो में मध्यकालीन भक्ति-पदो की रचना-पद्धति भी दृष्टिगोचर होती है। भक्तिकालीन पद-रचना की छन्द-प्रवृत्ति भी सगीतात्मक ही थी। सन्त

साहित्य के अध्येता श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है—"संत काव्य की परम्परा तत्वत उस काव्य रचना-पद्धति की ओर सकेत करती है जो मानव समाज की मूल प्रवृत्तियो पर आश्रित है। वह आप से आप चल पडी और उसी रूप मे विकसित भी होती गई। वह उस काव्य मे विद्यमान है जबकि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण शास्त्र का नियत्रण न था और न उसने काव्यरूप की व्यवस्था के लिये किन्ही छन्दो, नियमो की ही सृष्टि हुई थी।' सत और भक्त कवि अपने पदो को भक्त समाज के मध्य मदिरो म गाया करते थे—वैयक्तिक रूप मे भी और समूह रूप म भी। इन भक्ति और निर्गुण पदो की टेक प्रत्येक एक या दो पाद के पश्चात् दोहराई गई है। इनकी विषय-वस्तु म भी कभी-कभी सगति नही होती—प्रत्येक पक्ति एक पृथक् विचार को व्यक्त करती है। यही प्रवृत्ति राजस्थानी लोकगीतो मे मिलती है।

उपर्युक्त शास्त्रोक्त छन्दो के अतिरिक्त राजस्थानी लोकगीतो मे कुछ नादधर्मी छन्द भी मिलते है। यह छन्द विशेषत नृत्यगीतो मे होते हैं। मागलिक और आनुष्ठानिक पर्वों पर अथवा होली, गणगौर और तीज जैसे सामाजिक त्योहारो पर नृत्य करती हुई स्त्रियाँ इन नादधर्मी छन्द-गीतो को गाती है। पुरुष समाज के द्वारा नृत्य के साथ गाये जाने वाले नादधर्मी छन्द-गीत भी उपलब्ध होते हैं। इन छन्द-गीतो मे शब्द ध्वनियो का बाहुल्य होता है। यह ध्वनियाँ प्राय निरर्थक होती हैं किन्तु इनसे गायक के हृदय का उल्लास और उछाव अभिव्यक्त होता है तथा गीत का सागीतिक सौन्दर्य अभिवृद्ध होता है। उदाहरण के लिये नीचे एक गीत दिया जा रहा है—

> ओ जी ओ, मने पाणीडो पोमचियो रगा दे, मोरी माय
> घडी एक घूमर रमवा दे
> ओ जी ओ, मने रामूडा रो देवटियो घडा दे, मोरी माय
> घडी एक घूमर रमवा दे
> ओ जी ओ, मने राठोडा री बोली प्यारी लागै, मोरी माय
> घडी एक घूमर रमवा दे
> ओ जी ओ, मने राठोडा रे घर परणाज्ये, मोरी माय
> घडी एक घूमर रमवा दे - - - -

इस सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् विद्वानो की यह धारणा कि' लोकगीतो मे शास्त्रीय छन्दो को ढूँढना निरर्थक प्रयास है', सत्य प्रतीत होती है। ऐसा

करना धारा की विपरीत गति का पर्यवेक्षण करना है। शास्त्रीय साहित्य की धारा लोक साहित्य मे प्रवाहित नही होती अपितु लोकसाहित्य की चिरतन धारा शिष्ट साहित्य को प्रत्येक काल मे आकण्ठ प्रवाहित करती रहती है। डॉ० ग्रियर्सन का यह कथन भी बिलकुल सत्य है कि पिंगल शास्त्र के नियम लोकगीतो के सम्बन्ध मे शिथिल पड जाते हैं।

लोकगीतो का छन्द विधान पूर्णरूप से स्वतन्त्र प्रवृत्ति को लेकर है। शब्द के स्थान पर उनमे सजीवित स्वर का उन्मुक्त उपयोग हुआ है अत उनके शब्द मे छन्द-सौन्दर्य का नही ढूंढना चाहिये। वह छन्द-धर्मी नही होकर सगीतधर्मी है। एक तर्क दिया जाता है कि शिष्ट साहित्य मे भी साहित्य-रूढियो का अतिक्रमण कर प्रत्येक काल म साहित्यकार की स्वतत्र प्रवृत्ति कार्यशील रहती है और नये काव्य-रूपा का जन्म देती है। प्राचीन छन्दा के स्थान पर नये छन्द प्रतिष्ठित हा जाते हैं, फिर भी उनका शास्त्रीय अध्ययन तो होता ही है। उनम शास्त्रीय छन्दों के लक्षणों को ढूंढकर तथा नये प्रयागा का अध्ययन कर उनका नया रूप विधान नियत कर दिया जाता है। तब यह सब लोक-गीतो मे सभव क्यो नही है? इसका उत्तर यही है कि शिष्ट साहित्य का कवि चाहे कितने ही वस्तु और शिल्पगत नये प्रयोग करे—शास्त्र के सस्कार उसके अवचेतन मे मौजूद रहते हैं। एक शास्त्रीय चेतना अप्रत्यक्ष मे उसमे विद्यमान हाती है। वह लाख प्रयत्न करे किन्तु उससे मुक्त नही हो पाता। इसलिये उसके नये छन्दो मे पूर्ववर्ती छन्दा का रूपाधार रहेगा ही। लोक-गीतकार मे यह शास्त्रीय चेतना कतई नही हाती। उसका गीत तो उसके भावोच्छवास की अभिव्यक्ति या केवल स्वर-सगीत है जिसके स्वर, लय, तान, ताल आदि भाव की थिरकन के साथ स्वयमेवआते जाते हैं।

अन्त मे आदिकवि वाल्मीकि के वाक्य का उद्धृत कर मैं अपने इस निबन्ध का समाप्त करूंगा। क्रौंचवध को देखकर वाल्मीकि के मुख से कुछ वाक्य अनायास ही निसृत हुए थे। इन वाक्यो ने महर्षि का चकित कर दिया। वे विचारने लगे कि ये शब्द क्या हैं? और वे इसी निश्चय पर पहुँचे कि 'शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु न अन्यथा' अर्थात मेरी शोकार्त प्रवृत्ति ही श्लोक हो गई।

हम भी लोकगीतो के छन्द-स्वरूप के सबध मे वाल्मीकि का यही वाक्य स्मरण रखना चाहिये। लोकगीत अपने आप मे ही पूर्ण छन्द है।

राजस्थानी लोककथायें : एक मूल्यांकन

लोककथा का अर्थ स्पष्ट करते हुये डा सत्येन्द्र ने स्पष्ट किया है कि लोक मे प्रचलित और परम्परा मे चली आने वाली मूलत मौखिक रूप मे प्रचलित कहानियाँ लोक कहानियाँ कहलाती हैं। लोककथाओ मे लोकमानव की सब प्रकार की भावनायें तथा जीवन-दर्शन समाहित रहता है। भूत जानने की जिज्ञासा, घटनाओ का सूत्र, कोमल व परुष भावनायें, सामाजिक ऐतिहासिक परम्परायें, लोकजीवन के सूत्र सभी कुछ इन लोककथाओ मे मिल जाते हैं। लोककथा की कोई शास्त्रीय परिभाषा देना कठिन है। यह विश्व व्याप्त है। आदिम युग से ही मानव मन ने अपनी विचित्र अनुभूतियो को कथा रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। तब से मानव अभिव्यक्ति की यह विधा शाश्वत है। यह अवश्य है कि लोककथाओ की उत्पत्ति का इतिहास बडा रोचक है। मानव मन के विकास के कई चरणो मे से गुजर कर लोककथाओ ने अपने व्यक्तित्व को एक अलग पहचान के रूप म बनाया है। प्रकृति, धर्मभावना, धर्मगाथा, लोकवार्ता आदि सोपानो को पार कर ही लोककथा अपना विशिष्ट रूप ग्रहण कर पाई है।

लोककथा के अपने कुछ लक्षण और निर्माण-तत्व होते ' आभिजात्य कथा से पृथक करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ लोकमानस
२ कथा रूप
३ पात्र
४ अभिप्राय (Motif)
५ सामान्य घटना
६ सघटना
७ कथा मानक अथवा अक्षर कथा (Tale Type)

८. अलंकरण
९. वातावरण

लोककथा को लोककथा का रूप देने वाला मुख्य तत्व है लोकमानस की अन्तर्व्याप्ति। आभिजात्य कहानियों को यह तत्व लोककथा से अलग करता है। अन्य तत्व तो सभी कथारूपों में न्यूनाधिक विद्यमान रहते हैं। अत: जब कभी किसी कथा का अध्ययन करना हो तो इस लोकमानसीय अन्तर्व्याप्ति को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिये।

हमारा देश भारतवर्ष लोककथाओं की लीलाभूमि है। वेदो, पुराणो, ब्राह्मण ग्रंथो, उपनिषदो में असरय कथायें अथवा कथावृत विद्यमान हैं। संस्कृत पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, बौद्ध व जैन साहित्य मे कथाओं का महा समुद्र है। इसी दीर्घ परम्परा मे भारतवर्ष को सभी प्रादेशिक लोकभाषाओं मे लोककथा की पुण्य सलिला प्रवहमान है। इन सहस्र-सहस्र लोककथाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये विद्वानो ने इनका वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण में दो प्रमुख दृष्टियाँ कार्यरत रही है। एक है पाश्चात्य और दूसरी है भारतीय। सर जार्ज गोमे, एण्टी आर्ने, स्टिथ थामसन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो ने लोककथाओं को निम्नोक्त वर्गों में रखा है—

१. स्थानीय या परम्परागत कथायें—इसके अन्तर्गत सृष्टि–उत्पत्ति–विषयक कथायें, अतिमानवीय, अर्द्ध ऐतिहासिक स्थानीय कथायें रखी गई हैं।

२. परी कथायें
३. पशु-पक्षी विषयक कथायें
४. नीति कथायें
५. पुराण कथायें

भारतीय विद्वानों ने (डा० सेन, डा० उपाध्याय, डा० सत्येन्द्र) लोककथाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

१. उपदेश कथा
२. व्रत कथा
३. प्रेम कथा
४. मनोरंजन कथा (हास्य व्यंग)

६ पौराणिक कथा
ऐतिहासिक कथा
८ साहस व रोमांच की कथा
९ विविध

लोककथाओं की उपरोक्त वैज्ञानिक विवेचना की पृष्ठभूमि मे हम जब राजस्थानी लोककथाओं का अध्ययन करते हैं तो हमें पर्याप्त सन्तोष होता है। राजस्थानी लोककथायें विषय-वस्तु, कथाशिल्प व साहित्यिक सौन्दर्य—सभी दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध हैं।

राजस्थान मे लोककथा के लिये बात, वात व वारता शब्दों का प्रयोग होता है। राजस्थानी लोककथाओं की अपनी कुछ एकान्तिक विशेषतायें है। शैलीशिल्प के माधुर्य व विषय-वैविध्य की गंभीरता के अतिरिक्त इनके कहने, प्रारम्भ करने व समाप्त करने के ढंग मे इनकी अपनी मौलिकता आज भी शेष है।

राजस्थानी लोककथाओं की मौखिक परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। पन्द्रहवी शताब्दी से अनेक लोककथायें लिखित रूप मे मिलने लगी। उनका लेखक कौन था, वे कब लिखी गईं, कहा लिखी गईं ? इन प्रश्नो के प्रामाणिक उत्तर आज भी नही मिलते। राजस्थान मे कुछ जातियां ऐसी रही जो लोककथायें कहकर लोकानुरंजन का कार्य करती रही है। रावल, मोतीसर, भाट, बडवा, राणीमगा, ढाढी, नगारची, सरगरा, जागड आदि जातियां प्राचीनकाल से कथा कहने का पेशा करती आई है। अपने यजमानो के यहां इन जातियो के लोग कथायें सुनाया करते है। इन कथावाचको को ये लोककथायें कण्ठस्थ है। ये पढे लिखे नही होते किन्तु जब कथा कहते है तो लगता है कि ये किसी साहित्यकार, ज्ञानी पण्डित से कम नही हैं। कथा के बीच-बीच मे सामयिक दोहा का प्रयोग, किसी भक्ति पद व शृंगार गीत की संगीतमय प्रस्तुति कथा मे अनोखा चमत्कार व प्रभाव उत्पन्न कर देती है। संक्षेप मे, लोककथा का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसकी कथन-शैली मे निहित है और राजस्थानी कथावाचकों के पास यह कला मौजूद है।

राजस्थानी लोककथाओं की विषय वस्तु और रचना-शिल्प के आधार पर विद्वानो ने इनके निम्नलिखित वर्ग किये है—

१ वीर भावात्मक कथायें
२ नीति संबंधी कथायें
३ धर्म, व्रत तथा त्योहार-विषयक कथायें
४ देवी-देवता विषयक कथायें
५ पौराणिक कथायें
६ ऐतिहासिक कथायें
७ प्रेम व शृंगार-विषयक कथायें
८ स्त्री-चातुर्य की कथायें
९ कहावतों की कथायें
१० पद्यात्मक कथायें
११ चोर-डाकुओं की कथायें
१२ हास्य व व्यंग कथायें

उपरोक्त वर्गीकरण से प्रकट हो जाता है कि राजस्थानी लोककथाओं का भण्डार विशाल है और जीवन के सभी व्यापक प्रसंग इनमें समाहित हैं। नीचे उन विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है जो राजस्थानी लोककथाओं की निजी सम्पदा हैं—

१ कथानक का वैविध्य राजस्थानी लोककथाओं की एक अपनी विशेषता है। कथानक सम्बन्धी विशेषताओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है। घरबीती व परबीती। घरबीती कथानक वाली लोककथाओं में प्रेम-शृंगार, सामाजिक व पारिवारिक समस्यायें, व्रत व त्योहार आदि का वर्णन होता है। परबीती कथाओं में इतिहास अथवा पुराण की घटनाओं को आधार बनाया जाता है।

२ इन कथाओं का गठन औपन्यासिक विस्तार लिये होता है। कथा में कथा, कथा में उपकथा, उपकथा में उपकथा—इनकी संघटनात्मक विशेषता है। इस प्रकार जीवन के व्यापक संदर्भ इन कथाओं में समाविष्ट हो जाते हैं।

३ राजस्थानी लोककथाओं में अतिमानवीय तत्व की प्रधानता होती है। रूप परिवर्तन, गुण परिवर्तन, आकाशवाणी, परियाँ, भूत-प्रेत, देवी-देवता, सिद्ध-फकीर, तन्त्र-मन्त्र, सिद्धियाँ आदि तत्वों का प्राधान्य इन कथाओं में बहुलता से मिलता है।

४ कथानक रुढियों की सयोजना अत्यन्त कुशलता के साथ इन कथाओं मे हुई है। यो तो सहस्रो कथानक-रूढ़ियाँ इन कथाओं में मिलेंगी किन्तु नि सतान रानी, ऋषिश्वरो का प्रसन्न होकर वरदान देना, अभिस्तवित जल, दूत-दूती का कार्य, पहाडी गुफा मे शहर, राजकुमारी का राजकुमारी से प्रेम, सत्यक्रिया, भाग्य लेख, पेफ रा फूल, कमल पूजा, दृष्टिगर्भ, उप-श्रवण, भोजाई का ताना, जादू की डोरी इत्यादि ऐसी कथानक-रूढ़ियाँ हैं जो राजस्थानी लोककथाओं मे प्राय मिलती हैं।

५ राजस्थानी लोककथाओं में पात्रों का वैविध्य मिलता है। इन पात्रों को निम्नोक्त वर्गों मे रखा जा सकता है—१ एकरम सरल गति वाले पात्र जो जीवन के निश्चित लक्ष्य की ओर सरल भाव से बढते हैं। इनमे जीवन-सघर्ष अधिक नही होता। २ वर्गगत पात्र–राजपूत, बनिया, ब्राह्मण, जाट, बलाई, नाई, सुनार आदि इस वर्ग मे आते हैं। इनकी अपनी जातीय विशेषतायें है जिनका चित्रण लोककथाओं मे मिलता है। ३ अतिमानवीय तत्व से मडित पात्र, पशु-पक्षियो की बोली समझने वाले, भविष्यवाणी करने वाले, शकुन-अपशकुन की व्याख्या करने वाले पात्र इस वर्ग मे आते हैं।

६ राजस्थानी लोककथाओं मे शैली-शिल्प का सौन्दर्य भी अवलोकनीय है। अन्तंकथाओं की इनमे भरमार होती है। इन कथाओं के गद्य में पद्य की-सी सरसता होती है। प्राय दोहा-सोरठा व अन्य राजस्थानी छन्दो का प्रयोग भी इन कथाओं मे मिलता है। वर्णन की अधिकता राजस्थानी लोककथाओं की शैलीगत विशेषता है—नगर वर्णन, ऋतु-वर्णन, युद्ध-वर्णन, रूप व शृंगार वर्णन प्राय सभी कथाओं में बहुलता से मिलता है। लोकभाषा की सुन्दरता व सरसता भी इन कथाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है—लोकोक्तियो, कहावतो, मुहावरो का प्रयोग भाषा को एक सहज प्रभाव प्रदान करता है। स्थानीय वातावरण का चित्रण भी इन लोककथाओं मे खूब मिलता है जिससे लोकजीवन और लोकसंस्कृति को समझने मे बडी सहायता मिलती है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि राजस्थानी लोककथायें विषय-वस्तु व शैली शिल्प दोनों ही दृष्टियो से राजस्थानी लोक साहित्य की गौरववृद्धि करती हैं।

इन कथाओ के माध्यम से इस प्रदेश की इतिहास-परम्परा, संस्कृति, लोक-समाज, लोकजीवन को अधिकृतरूप मे समझने मे सहायता मिलती है। ये कथायें मात्र कथायें नही हैं, अपितु हमारा इतिहास और समाजशास्त्र भी हैं। मौखिक परम्परा मे जीवित व हस्तलिखित ग्र थालयो मे सग्रहीत इस समस्त लोककथा भण्डार को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। स्व सूर्यकरण पारीक, स्व डा कन्हैयालाल सहल श्री नरोत्तम स्वामी, श्री गोविन्द अग्रवाल विजयदान देथा, श्री नाथूराम सस्कर्ता, श्रीमती लक्ष्मीकुमारी चूडावत, श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, मोहनलाल पुरोहित, डा मनोहर शर्मा प्रभृति राजस्थानी के विद्वानो ने इन कथाओ के सग्रह-सरक्षण के क्षेत्र मे श्रेयस्कर कार्य किया है। आज राजस्थानी लोककथाओ के अनेक सग्रह मुद्रितरूप मे उपलब्ध हैं। इस दिशा मे समाजशास्त्रीय व मनोवैजानिक दृष्टि से शोधकार्य की आवश्यकता आज भी ज्यो की त्यो बनी हुई है। यद्यपि इन कथाओ पर विश्वविद्यालय का शोध-उपाधिपरक कुछ कार्य भी हुआ है किन्तु वह पर्याप्त वैज्ञानिक नही है।

जनता द्वारा रचा गया, जनता के जीवन से सम्बन्ध रखने वाला यह राजस्थानी लोककथा साहित्य जनता की सास्कृतिक सम्पदा है।



राजस्थानी लोक-प्रेमाख्यान :

एक साहित्यक आकलन

प्रेम मानव की एक शाश्वत प्रवृत्ति है। मानवीय-व्यापार के मूल में यही प्रेम-तत्व है जो सतत क्रियमाण है। यही कारण है कि मानव जाति के आदि साहित्य से लेकर वर्तमान तक प्रेमाख्यानों की समृद्ध परम्परा अविच्छ ललित रूप से विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय में हमें मिलती है। भारतीय साहित्य तो इस दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थान बनाये हुये है। ऋग्वेद में यम-यमी के संवाद, सूर्य-पुत्री तपती एवं संवरण का प्रणय, उर्वशी और पुरूरवस् के प्रेम-प्रसंगों में हमें प्रेमाख्यान साहित्य के बीजरूपों के दर्शन होते हैं। फिर महाभारत और अन्य पुराणों में यह धारा अविराम बहती हुई संस्कृत साहित्य का अपनी शोभा-सरसता से अभिमण्डित करती है। देवसेन और उन्मादिनी की कथा, धर्मदत्त और मदनसेन की कथा, वासवदत्ता, रत्नवती, पद्मावती, कादम्बरी, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, मालती माधव, अभिज्ञान शाकुन्तल, पार्वती परिणय आदि ऐसे प्रेमाख्यान हैं जिन्होंने संस्कृत वाङ्मय को शोभाकिरीट से विभूषित किया है। यह अवश्य है कि वैदिक और पुराण साहित्य में प्रेमाख्यान धर्म और अध्यात्म के प्रतीक-भार से दबे रहे। मानवीय प्रेम की व्यापक और सुरम्य गहराइयों तक वे नहीं पहुंच पाये। संस्कृत प्रेमाख्यान साहित्य में ही उन रमणीय सीमान्तों का संस्पर्श हुआ है। कथा शिल्प की दृष्टि से भी संस्कृत प्रेमाख्यानों में नई संभावनाओं की भूमिका निर्मित हुई। विविध कथा-बीजों के प्रयोग भी इस साहित्य में किये गये जो भविष्य के प्रेमाख्यान साहित्य के रूप-विधान का मूलाधार बनाते हैं।

प्रेमाख्यान की यह पयस्विनी संस्कृत को रससिंचित करती हुई प्राकृत और अपभ्रंश को प्लावित करती है। बौद्ध जातकों और जैन जातकों में अनेक ऐसे प्रेमाख्यान हैं जो साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश के चरिउ-काव्यों में प्रेमाख्यान की धारा विद्यमान है। यद्यपि प्राकृत-अपभ्रंश की इन रचनाओं का मूल उद्देश्य धर्मोपदेश रहा किन्तु शृंगार और

प्रेम-प्रसगों के सरस वर्णन ने लोकप्रियता के साथ इन्हें साहित्यिक गरिमा भी प्रदान कर दी है। प्रेमाख्यानो मे कथातन्तुओं को नया विस्तार और समृद्धि मिली है। प्रेमाख्यानो की इस अखण्ड परम्परा के हमे आगे चल कर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं मे दर्शन होते हैं। राजस्थानी के प्रेमाख्यान भी इस आदि काल से प्रवहमान भारतीय प्रेम-साधना की परम्परा की कड़ी हैं।

राजस्थान मे प्रेमाख्यान साहित्य के दो प्रधान वर्ग मिलते है। पहला, आभिजात्य प्रेमाख्यान जो जैन कवियों, चारण भाटो एव अन्य साहित्यकारो द्वारा विरचित हैं। दूसरा, लौकिक प्रेमाख्यान जिनका निर्माण लोक द्वारा हुआ है और जो अलिखित रूप में दीर्घ परम्परा से लोक कण्ठ मे प्रतिष्ठित रहे है। इन सभी प्रेमाख्यानों की सख्या, जो आज उपलब्ध है, सौ से ऊपर है। अनेक ऐसे प्रेमाख्यान अभी लोक मे प्रचलित हैं जिनका पूरा सर्वेक्षण नहीं हुआ। हस्तलिखित ग्रन्थो में भी अनेक ऐसे प्रेमाख्यान अभी हैं जो शोध और अध्ययन की अपेक्षा रखते है। जिन प्रेमाख्यानों का अभिज्ञान विद्वानो को हो गया है उनम प्रमुख ये हैं—ढोला मारू रा दूहा, बीसलदेव रास, लखमसेन पदमावती कथा, माधवकामकन्दला प्रबन्ध, पच सहेली रा दूहा, मधुमालती, वेलि क्रिसन रुकिमणी री, गोरा बादल चौपाई, महादेव पारवती री वेलि, पद्मिनी चरित्र चौपाई, चन्दकुवर री बात, अचलदास खीची री बात, सदैवच्छ सावलिगा री बात, बात सयणी चारणी री, मूमल महेन्दर, लाखा फूलाणी, बीजा सोरठा री बात, बात नागजी नागवती री, पन्ना बीरमदे री बात, आमल खींवजी री बात, जेठवा ऊजली, रतना हमीर री वारता, जसमा ओडण, निहालदे सुलतान रा पवाडा। इनमे से अधिकाश प्रेमाख्यान प्रकाशित हो चुके हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये प्रेमाख्यान राजस्थानी भाषा मे हैं—हाँ, काल-क्रम के अनुसरण मे राजस्थानी के विविध भाषा-रूपो के इनमे दर्शन होते हैं। जो जैन कवियो द्वारा रचित हैं उनमे प्राकृत-अपभ्रश का प्रभाव स्पष्ट है। चारण और भाटो द्वारा रचित प्रेमाख्यानो मे डिंगल काव्य की परिष्कृत शैली म प्रयोग मिलता है और जो लोक प्रेमाख्यान है, उनकी भाषा मे लोक भाष की सहजता, ताजगी, अकृत्रिमता और सौन्दर्य है। ये प्रेमाख्यान गद्य, प और चम्पू-काव्य शैली मे मिलते हैं। काव्य के प्रति लोक-हृदय में एक सह

रुचि और आकर्षण रहा है। अस्तु गद्यात्मक प्रेमाख्यानो मे भी दोहा और सोरठा का प्रयोग बहुलता से मिलता है।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रेमाख्यानो का जिनका अध्ययन है वे जानते है कि इनके शैली-शिल्प मे ही केवल सादृश्य नही है विषय-वस्तु, कथा-बीज, मिथक एवं प्रतीकों मे भी एक अद्भुत समानता है। अन्य भारतीय भाषाओ मे उपलब्ध प्रेमाख्यानो मे भी यह समानता विद्यमान है। लोक-हृदय और मानस की यह समरसता हमारी एकीभूत सस्कृति की व्यापकता और महानता को ससिद्ध करती है। राजस्थानी प्रेमाख्यान भी इस तथ्य के प्रमाण हैं। राजस्थानी के अनेक प्रेमाख्यान सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मे ज्यो के त्यों विद्यमान हैं। अन्य वर्तमान भारतीय भाषाओ में भी ये कुछ रचनाओ के साथ मिलते है पर इसका यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिये कि राजस्थानी प्रेमाख्यानों की अपनी विशेषतायें और उपलब्धिया नही हैं। यदि गहराई और सूक्ष्मता से इनका अध्ययन किया जाय तो इनमे विषय-वस्तु, रूपसज्जा और विन्यास की ऐसी अनेक मौलिकतायें मिलेंगी जो इनकी अपनी हैं।

राजस्थानी प्रेमाख्यानो का शास्त्रीय और वस्तुगत अध्ययन करते समय हमे भारत की मध्यकालीन प्रेम साधना को भी दृष्टि मे रखना चाहिये। इनमें से अधिकाश प्रेमाख्यानो की रचना—चाहे वह अभिजात्य कवियो द्वारा हुई हो चाहे लौकिक कवियो द्वारा—इसी काल मे हुई है। हिन्दी के प्रेमाख्यानो पर सूफी और मसनवी शिल्प, दर्शन और प्रेम-साधना का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। राजस्थानी प्रेमाख्यान इस प्रभाव से मुक्त रहे हैं। इनमे से कुछ पर, जो धर्म और अध्यात्मपरक हैं, आध्यात्मिक प्रतीकों का आरोपण अवश्य हुआ है किन्तु यह भारतीय परम्परा ही है न कि सूफी। भारतीय परम्परा के लोक पक्ष के ही दर्शन इन प्रेमाख्यानो मे अधिक होते हैं। इन प्रेमाख्यानो के अधि-काश नायक-नायिका और पात्र अभिजात्य वश के हैं किन्तु लोकजीवन के धरातल पर ही उनका चित्रण हुआ है। अभिजात्य कवियो द्वारा रचित कुछ प्रेमाख्यानों में नायक-नायिका का प्रेम और विरह-वर्णन, नख-शिख चित्रण संस्कृत प्रेमकाव्यो की ऊहात्मक शैली मे है।

राजस्थानी के ये प्रेमाख्यान विषय-वस्तु की दृष्टि से तीन वर्गों मे रखे जा सकते हैं—१. दाम्पत्य परक (ढोला मारू रा दूहा, विसलदेव रास आदि), २. काम परक (माधवानल कामकन्दला, सदयवत्स सावलिंगा री बात, मधु

परक (निहालदे-सुलतान) । दाम्पत्य परक प्रेमाख्यानो मे
रवाहिता पत्नी अथवा पत्नियो के प्रति निष्ठामय प्रेम का
स प्रेम-पूर्ति के मार्ग मे भी बाधायें आती है जिन्हे नायक धैर्य,
में विश्वास रखता हुआ विजित करता है। काम-परक
क का किसी परकीया वेश्या, नर्तकी अथवा किसी अन्य
और आतुर प्रेम दिखाया गया है। इन प्रेमाख्यानो में प्रेम
मत अवस्थाओ के चित्रण के साथ सभोग वर्णन भी है।
की एक विशेषता है और वह यह कि ये अत्यन्त मर्यादित
। सत परक प्रेमाख्यानों में नायिका के शील और सत
त्रण किया है। नारी-चरित्र की इस पावनता को व्यापक
करना ही इन सत-परक प्रेमाख्यानो का प्रयोजन रहा है।
ख्यानो के उपजीव्य या तो देव या देवी पात्र हैं अथवा
और इनके प्रेम और शृगार चित्रण के प्रतीक-माध्यम
र आत्मा के अविच्छेद शाश्वत सम्बन्ध तथा उनकी तीव्र
रूपाकन हुआ है। वेली क्रिसण रुक्मिणी री, पार्वती री
ण आदि प्रेमाख्यान इसी कोटि के है।

ो के मूलकथा स्त्रोतो पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो यह
नमें से अनेक की प्रेरणा-भूमि पुराण और इतिहास रहे हैं।
भी हैं जो आदि काल से मौखिक परम्परा मे प्रचलित रहे
के नाम, आचरण और स्थानो से ऐसा लगता है कि ये
पौराणिक है किन्तु वास्तविकता यह नही है—लोकजीवन
इनका स्रोत है। लोकमानस की प्रभूत कल्पना से ही ये जन्म
। रोचकता, वर्णनकला, मनोहर उपजीव्य के कारण लोक
गते हैं। हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रेमाख्यानो की
रतीय अनादि परम्परा मे से धावित होती हुई राजस्थानी
प्रकट हुई है अत इनकी कथावस्तुओ मे एकान्त मौलिकता
व्यर्थ है। कथाशिल्प की दृष्टि से राजस्थानी प्रेमाख्यानो का
अवश्य है। कथातन्तु अथवा अभिप्राय लोक-कथाओ की आत्मा
ी किसी भी लोककथा की कल्पना नही कर सकते जिसमें
न्तु न हो। लोककथा का परम्परा-गत रूप, सास्कृतिक रूप,
र, नैतिक रूप और परिभ्रमणकारी रूप इन अभिप्रायों मे ही

परिलक्षित होता है। प्रेमाख्यानो में जो हमे कथावस्तु का साम्य दिखता है उसके मूल मे ये सार्वभौम कथातन्तु ही हैं। ये अभिप्राय कथाशिल्प मे तीन प्रकार से सहायक होते हैं—१ घटना व्यापार को अग्रसर करते हैं, २ अलौकिक एव आश्चर्यजनक क्रिया-कलापो का समाधान प्रस्तुत करते हैं, ३ श्रोताओ अथवा पाठको की उत्सुकता मे अभिवृद्धि कर कथाविन्यास को रोचक बनाते हैं। राजस्थानी प्रेमाख्यानो मे या तो अनेक कथातन्तुओ का प्रयोग हुआ है (वैज्ञानिक दृष्टि से अभी इस विषय की पूर्ण शोध नही की गई) किन्तु परकीय-प्रवेश, साकेतिक भाषा, तिरस्कृत प्रेमिका, गर्भवती की अभिलाषा, सत्यक्रिया, सत की परीक्षा, सकटो की भविष्यवाणियाँ, वर्जित कक्ष, जादू की डोरी, छद्म-वेश मे प्रेमिका के महल मे प्रवेश, प्राणो की अन्यत्र स्थिति, योगी, राक्षस, दो भाइयो का अभिप्राय आदि प्रमुख कथातन्तु हैं, जो व्यापक रूप मे प्रयुक्त हुये हैं। इन प्रेमाख्यानो मे कथाशिल्प मे एक अभूतपूर्व सौष्ठव और मनोहरता की सृष्टि हुई है।

जैन कवियो, चारण-भाटो अथवा अन्य लेखको द्वारा विरचित प्रेमाख्यानो मे हमे आभिजात्य काव्य-प्रणालिया के दर्शन होते है—जैसे उनका प्रारम्भ मगला-चरण से हुआ है, उन्हे सर्गों मे विभाजित किया गया है, तथा उनमे प्रबन्धत्व और काव्य-रूपो की ओर भी सजगता है। किन्तु लौकिक प्रेमाख्यानो मे आद्यन्त वर्णन की सहजता दिखाई देती है। दोहा, सोरठा, चौपाई और चन्द्रायण इनके मुख्य छन्दरूप हैं और स्थान-स्थान पर यथावश्यक वार्ता [अलकृत गद्य] का प्रयोग भी इनमे हुआ है। पारिवारिक जीवन की समरसता, लोक के अटूट विश्वास, स्थानिक प्रकृति, लोकरीतियाँ आदि के आत्मीय सुन्दर इतिवृत्त से ये प्रेमाख्यान सर्वत्र अभिमण्डित हैं। वैचित्र्य और चमत्कार भाव से शून्य एक सहज भाव-विदग्धता सरल-सरल रूप मे यहाँ दिखाई देती है। लोकोक्तियो, जनश्रुतियो और नीति- सूक्तियो ने इन काव्यो की साहित्यिक गरिमा को और भी समृद्ध किया है। प्रतीक और रूपको का प्रयोग भी राजस्थानी प्रेमाख्यानो मे हुआ है किन्तु अधिक नही। 'बेलि क्रिसन रुक्मिणी री' एक रूपक काव्य ही है।

प्रेमाख्यानो की सफलता उनके कथाशिल्प मे उतनी नही है जितनी उनके सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम- निरूपण मे। सौन्दर्य की प्राणधारा साहित्य को उच्चता प्रदान करती है। प्रेमाख्यान के ये रचयिता कवि केवल सौन्दर्य के

वाह्य सीमान्तो का ही सस्पर्श नही करते बल्कि उसकी ग्रन्तरात्मा मे प्रवेश कर हमे शाश्वत ग्रौर चिरतनसौन्दर्य की ग्रनुभूति प्रदान करते हैं। यही कारण है कि राजस्थानी के इन प्रेमाख्यानो से काव्य का सरस ग्रौर प्राजल रूप उपलब्ध होता है।

राजस्थानी प्रेमख्यानो के सौन्दर्य ग्रौर प्रेम-वर्णन मे कवियो ने शील ग्रौर मर्यादा की सर्वत्र रक्षा की है—इस प्रकार रीतिकालीन प्रेमाख्यानो की भाति ये काम शास्त्र-ग्रन्थ होने से वच गये हैं। इनमे सयोग वर्णन भी है, किन्तु ग्रत्यन्त ग्रावृत्त ग्रौर सयत। 'ढोला मारू रा दूहा' के दो छन्दो से यह स्पष्ट हो जायेगा—

मन मिलिया, तन गड्डिया दोहग दूरि गयाह।
सज्जण पाणी क्षीर ज्यू', खिल्लोखिल्ल थयाह॥
पंजाइण गई पाखरयउ, मइंगल मइ मद कीय।
मोहण वेली मारूई, कंत पेम—रस पीय॥

[ढोला ग्रौर मारवण के मन मिल गए, तन गड गये (परस्पर प्रगाढ ग्रालिंगन मे) ग्रौर दुर्भाग्य दूर हो गए, प्रेमी दम्पति पानी ग्रौर दूध की तरह मिलकर एक हो गए। मानो सिंह था ग्रौर भक्ष्य पाकर तृप्त हो गया, हाथी था ग्रौर मद पी लिया। इसी प्रकार मारवणी मोहन बेली तो थी ही, फिर उसने प्रियतम के प्रेम का रस पी लिया।]

नायिकाम्रो के पार्थिव रूप वर्णन ग्रौर नखशिख चित्रण मे भी रचनाकार की यही स्वस्थ ग्रौर शालीन दृष्टि रही है। सौन्दर्य-चेतना मे मासलता से तो वे मुक्त नही रह पाये हैं किन्तु वासना की दुर्गन्ध से वे सर्वथा बचे हैं। एक चतुर सौन्दर्य शिल्पी की भाँति नारी-रूप का ग्रत्यन्त मनोहर ग्रौर सात्विक चित्राकन इन रचनाकारो ने किया है। रूपक, उत्प्रेक्षा ग्रौर उपमाग्रो की शोभा से मण्डित नारी- सौन्दर्य इन प्रेमाख्यानो मे दिव्य शिखरो को चूम रहा है। रुक्मणी मे यौवनागम का वर्णन कितना सरस किन्तु निर्वेद है—

पहिलउं मुखि राग प्रकट थिउ प्राची
ग्ररुण कि ग्ररुणोदय ग्रंबर
पेखे किरि जागिया पयोहर
संझा वंदण रिखेसर

[पहले रुक्मिणी के मुख पर लालिमा प्रकट हुई, मानो पूर्व दिशा के आकाश मे सूर्योदय के समय ललाई दिखाई पड़ी हो। जिस प्रकार अरुणोदय की लालिमा को देखकर ऋषि लोग सध्यावदन करने के लिये उठ खड़े होते हैं, उसी प्रकार मुख की लालिमा के साथ पयोधर जाग उठे।]

इस प्रकार ये राजस्थानी प्रेमाख्यान काव्यकला से तो मण्डित हैं ही, मानवीय सौन्दर्य के स्वस्थ बोध की दृष्टि से भी राजस्थानी साहित्य-कोश के अमूल्य रत्न हैं। लोकहृदय की सौन्दर्य-चेतना के ये निर्मल दर्पण हैं।

राजस्थानी लोकगाथाएँ :

. एक विवेचन

कथात्मक गीतो के लिये लोकसाहित्य मे भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। गुजराती में इसे कथागीत कहते हैं। राजस्थानी के विद्वान सूर्यकरण पारीक ने इसे गीतकथा कहा है। महाराष्ट्र मे इन कथागीतो को 'पवाडा' कहते हैं। अन्य भारतीय भाषाओ मे इनके लिये इसी प्रकार पृथक्-पृथक् नामरूपों का प्रयोग मिलता है।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने ऐसे कथात्मक गीतों के लिये 'लोकगाथा' शब्द का प्रयोग किया है। यह नाम सर्वाधिक सार्थक लगता है। यह शब्द दो शब्दो के योग (लोक+गाथा) से बना है। लोक शब्द की विवेचना यहाँ आवश्यक नही प्रतीत होती। लोकसाहित्य का अध्येता इसके तात्विक व पारिभाषिक अर्थ से परिचित है है। हमे गाथा शब्द की भारतीय परम्परा पर यहाँ अवश्य विचार कर लेना चाहिये।

'गाथा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद मे हुआ है। यज्ञ के समय गाथा गाने की प्रथा वहाँ मौजूद थी। विष्णु पुराण, अमरकोष, गाथा सप्तशती आदि संस्कृत ग्रंथो मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी गाथा शब्द गेय कथानक का ही द्योतन करता है। किन्तु हिन्दी मे आकर गेयता के साथ कथा की प्रबन्धात्मकता का भी समावेश हो गया। अतः 'लोकगाथा' शब्द लोकसाहित्य की आख्यान मूलक गेयविधा के लिये समीचीन प्रतीत होता है।

लोकगाथा शब्द की अनेक परिभाषायें हुई हैं। अंग्रेजी के 'बैलड' शब्द के लिये हिन्दी समानान्तर लोकगाथा है। अतः 'बैलड', को दृष्टि मे रखकर ही अधिकाश परिभाषायें हिन्दी मे प्रचलित हुई हैं। प्रो० किटरिज, जीरोल्ड, डा० भदे, हेजलिट आदि की परिभाषाओ से लोकगाथा के जो प्रमुख लक्षण उजागर होते हैं, वे संक्षेप मे निम्नोक्त हैं—

१ गेयता
२ कथा की प्रबन्धात्मकता
३ चरित्र नायक की जीवन-कथा
४ मौखिक परम्परा
५ अभिव्यक्ति की सहजता
६ लोकमानस की प्रवृत्तियों का निरूपण
७ लोकजीवन
८ सहज रसमयता

डा० सत्येन्द्र व डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी लोकगाथा मे उपरोक्त लक्षणों को स्वीकार किया है। संक्षेप मे हम यह कह सकते है कि लोकगाथा किसी अज्ञात रचयिता द्वारा रचित सम्पूर्ण लोक की एक ऐसी धरोहर है जिसमे गेयता के साथ-साथ कथात्मकता का भी निर्वाह होता है। इसका प्रसार या प्रचार मौखिक रूप मे होता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुये यो कह सकते हैं कि लोकगाथा मे जन साधारण के अनुभव, विश्वास, मान्यतायें और कल्पनायें निहित होती हैं।

राजस्थान म इस लोकगाथा शब्द के लिये 'पवाडा' शब्द का प्रयोग भी होता है। पाबूजी का पवाडा, निहालदे का पवाडा आदि प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी लोकगाथायें अन्य लोकसाहित्यिक विधाओ की भाति काव्यात्मकता, शैल्पिक वैविध्य एव सास्कृतिक व सामाजिक निरूपण की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनकी एक लम्बी इतिहास-परम्परा है। जीवन का प्रत्येक पक्ष इनमें अभिव्यक्त हुआ है। वीर, शृंगार, हास्य, करुण और निर्वेदादिक भावो का सफल चित्रीकरण इन लोकगाथाओ मे सहज सुलभ है। विषय-वस्तु की दृष्टि से राजस्थानी लोकगाथाओ का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ वीर कथात्मक
२ प्रेमकथात्मक
३ रोमाच कथात्मक
४ निर्वेदात्मक
५ पौराणिक
६ विविध

बगडावत, पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी, डूगजी-जवारजी आदि लोकगाथायें वीरकयात्मक वर्ग मे रखी जायेंगी क्योकि इन गाथाओ के नायक धर्म, जाति, ब्राह्मण, भूमि, गाय, सतीत्व की रक्षा के लिये वीरता का प्रदर्शन करते हुये अपने प्राणो की बलि दे देते है। 'निहालदे सुलतान' यद्यपि एक प्रेमाख्यान-मूलक गाथा है किन्तु इसमे सुलतान की वीरता का उत्कर्ष होते हुये भी जादू, परियाँ, रूप परिवर्तन, आकाशगमन आदि अलौकिक प्रसगो का प्राधान्य है। अत इसे रोमाचक लोकगाथा कहना अधिक समीचीन है। ढोलामारू, जलाल बूबना, सोरठो, नागजी-नागवती आदि गाथायें प्रेमाकथात्मक लोकगाथाओ की कोटि मे आयेंगी। इन गाथाओ मे मानवीय प्रेम व माधुर्य भाव का बडा हृदयवेधी चित्रण हुआ है। ब्यावलो, आवारस प्रसग, भीमोभारत, सैतगैडो, द्रुपदा अवतार आदि राजस्थानी की पौराणिक लोकगाथायें है। पुराण और महाभारत के कथाप्रसग इन गाथाओ की विषयवस्तु के आधारस्तभ हैं। गोपीचद भर्तृहरी विषयक लोकगाथायें निर्वेदयात्मक लोकगाथा की कोटि म आयेंगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय-वस्तु की दृष्टि स राजस्थानी लोकगाथायें व्यापक लोकजीवन को अपने मे समाविष्ट किये हुये हैं।

ये लोकगाथायें केवल मनोरजन-परक ही नही हैं। इन्हे राजस्थानी लोकजीवन का अक्षयकोष कहना अधिक उपयुक्त होगा। लोकभाषा की सहजता का सौन्दर्य, लोककवि की काव्य निपुणता तो इन गाथाओ म दृष्टव्य है ही, राजस्थान की लोकसस्कृति का प्रामाणिक परिदृश्य भी इन लोकगाथाओ मे अपनी पूरी जीवन्तता क साथ उजागर हुआ है। ये आज भी मौखिक परम्परा म जीवित हैं। भोपे, जोगी, लधा इन गाथाओ को लोकसगीत की सरसता के साथ गाकर लोकानुरजन करते है।

राजस्थानी लोकगाथाओ के लोकतात्विक व साहित्यिक महत्व को समझने के लिये यहाँ 'निहालदे सुलतान' की विस्तृत समीक्षा दी जा रही है।

राजस्थानी साहित्य से तनिक भी परिचय रखने वाले महानुभाव इस तथ्य से परिचित होंगे की राजस्थान के लोक एव आभिजात्य लेखक की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, एव परिष्कृत रही है। प्रकृति एव मानव-जीवन की गहराइया एव जटिलताओ को इन दोनो सृजनधर्मी वर्गों ने सूक्ष्मता से देखा-परखा और अनुभव

किया है अस्तु, राजस्थानी भाषा के अकेले प्रेमाख्यान-साहित्य पर ही यदि हम दृष्टिपात करें तो भी इनकी दिव्य-प्रतिभा से व्यामोहित हो जाना पडता है। यह कहना तो उपयुक्त नही है कि राजस्थानी का प्रेमाख्यान-साहित्य वस्तु, शैली-शिल्प एव उद्भावनाओ मे सर्वथा मौलिक है। भारतीय साहित्य की समूची प्रेमाख्यान-परम्परा का अवलोकन करने पर यह प्रकट हो जाता है कि कतिपय अपवादों को छोडकर राजस्थानी के अधिकतर प्रेमाख्यान सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश की परम्परा मे ही हैं।

जैन कवियो, चारण-भाटो एव लोककण्ठ पर विद्यमान अलिखित इन प्रेमाख्यानो की सख्या सैकडो तक जाती है। इनमे से कुछ प्रेमाख्यान साहित्य सग्रहालयो मे असूर्यस्पर्शी की भाँति पडे है। 'ढोला मारू रा दूहा' बीसलदेव रास, माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध, मधुमालती, वेली क्रिसन रुकमणीरी, सदयवत्स सावलिंग री बात, बात सयणी चारणी री, मूमल महेन्द्र, लाखा फूलाणी, बीजा मोरठरी बात, बात नागजी नागवतीरी, पना वीरमदे री बात, आभल खीवजी री बात, जेठवा ऊजली, रतना हमीर री वार्ता, जसमा ओडण और निहालदे-सुलतान रा पवाडा-इनमे अपना सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान रखते है।

लोकधर्म, पुराण, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व एव लोक-जीवन के व्याप्त वृत्त मे सन्निविष्ट नारी-पुरुष का समस्त यौन-प्रेम इन प्रेमाख्यानो मे चित्रित हुआ है। शैली-शिल्प का वैविध्य इनमे द्रष्टव्य है। प्राय ये गद्य-पद्य एव गद्य पद्य मिश्रित चम्पू-काव्य मे उपलब्ध होते हैं।

'निहालदे-सुलतान' का सक्षिप्त मूल्याकन करना ही यहाँ मेरा अभिप्रेत है। यह राजस्थानी का अत्यन्त सरस लोक महाकाव्य है। लोक ही इसका रचयिता है। लोक मे यह 'निहालदे-सुलतान रा बावन पवाडा' के नाम से प्रसिद्ध है। यो तो समस्त राजस्थान मे इस प्रेमाख्यान मे आये स्फुट लोकगीत, विशेषत प्रेम और विरह के, मिलते है और नारी समाज द्वारा गाये जाते हैं किन्तु प्रबन्ध-रूप मे यह शेखावाटी मे ही अधिक प्रचलित है। हिन्दी एव राजस्थानी के प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक एव चिन्तक-समीक्षक डॉ० कन्हैयालाल सहल ने इसे श्री जयदयालजी नाथ से सुनकर सर्वप्रथम लिपिबद्ध कराया। यह अपने मूल पद्यात्मक रूप से बिडला सेण्ट्रल लाइब्रेरी, पिलानी मे सुरक्षित है। डॉ० सहल

ने ही इस लोक महाकाव्य का संक्षिप्त हिन्दी गद्य-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। पहले यह 'मरु भारती' मे अविरल रूप से प्रकाशित हुआ था और अब पुस्तकाकार उपलब्ध है।

निहालदे सुलतान की बीज-कथा संक्षेप मे इतनी ही है—सुलतान कीचलगढ के राजा मैनपाल का पुत्र है। बाल्यकाल से ही उसे बारह वर्ष के निष्कासन का दण्ड दिया जाता है। गुरु गोरखनाथ उसे ५२ साकों का वरदान देते हैं। ईडरकोट के कमधजराव सुलतान को अपना धर्मपुत्र बना लेते हैं। केलागढ की राजकुमारी निहालदे से उसका प्रणय विवाह होता है। अपनी धर्ममाता कमधजराव की रानी के कटुवचनो पर वह नरवलगढ चला जाता है। नरवलगढ के राजा ढोलसिंह भी उसका सम्मान करते हैं और उसकी पत्नी मारू उसे अपना धर्म-भाई बना लेती है। बारह वर्ष की निष्कासन-अवधि की समाप्ति पर अपनी रानी निहालदे सहित कीचलगढ आकर सुलतान सिंहासनारूढ होता है। अपने वचन के अनुसार अपनी धर्म-बहिन के यहाँ भात न्योतता है। प्रजावत्सल राजा के रूप मे वह कीचलगढ मे लम्बी अवधि तक राज्य करता है।' निहालदे-सुलतान की बीज-कथा इतनी ही है किन्तु इसमे अन्य सैकडो अन्तर-अवान्तर कथाएँ हैं जो अत्यन्त सुगठित हैं। वे इस महाकाव्य की रुचिरता, अर्थगरिमा और काव्यात्कर्ष का अभिवृद्ध करती हैं।

लोककाव्य का अपना एक शैली शिल्प, अपनी एक भाव-भूमि, अपना एक सास्कृतिक परिवेश होता है। लोक-साहित्य रचना की सार्थकता इसमे नहीं है कि उसमे कलात्मक चमत्कार कितना है, रूप-वैचित्र्य कितना है। उसकी सार्थकता इसमे है कि वह लोक-जीवन की विराटता का कितनी सहजता और सवेदना के साथ वाणी द सका है। 'निहालदे सुलतान' पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो बडा सतोष होता है। यह काव्य अपने कलेवर मे विराट लोक-जीवन और सस्कृति को संयोजित किए हुए है। लोक-साहित्य के प्रवृत्ति-क्रम म यद्यपि इस काव्य के नायक-नायिका तथा प्रासगिक कथाओ के पात्र राज्य-परिवार और सामन्ती वर्ग के हैं—इसका सम्पूर्ण परिवेश सामन्ती और आभिजात्य है किन्तु तत्कालीन साधारण लोक की एक स्पष्ट तस्वीर भी इसमे उभरी है। सामान्य लोक के सामाजिक रीति रिवाज, धर्म, विश्वास, वर्जनाएँ, अनुष्ठान, परिवार, आर्थिक स्थिति, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, न्याय और व्यवस्था की स्थिति आदि का बेलाग रूपाकन इस काव्य मे हुआ है। इसलिए जब यह

कहा जाता है कि लोक-साहित्य की रचनाएँ किसी देश और जाति का सांस्कृतिक इतिहास होती हैं, तो इसमे किसी प्रकार की अत्युक्ति नही होती । लोक-साहित्य मे चित्रित पात्रो, घटनाओ और स्थलो के आगे ऐतिहासिक प्रामाणिकता के प्रश्न चिन्ह लगे रहते हैं (निहालदे सुलतान के पात्र, स्थान, घटनाएँ भी अपवाद नही है) किन्तु यहाँ जीवन की रसधारा और दशा-दिशा का ही देखा जाता है । इन लोककाव्यो मे अनेक पात्र और घटनाएँ फँण्टेसीज के रूप में होती है । लोकमानस की प्रवृत्तियो के अनुसरण मे ही इन कथावस्तुओ का समीक्षण किया जाना चाहिए ।

कथा-प्ररूढियो की दृष्टि से यदि इस काव्य का अध्ययन किया जाय तो इसमे अनेक ऐसी प्ररूढियाँ मिल सकती हैं जो, सभव है, स्टिथ थॉमसन के अभिप्राय कोश (Motif Index) मे न हो । राजा-रानी, राजकुमार, राजकुमारी, स्वप्न-दर्शन, प्रणय, विवाह, बोलते हुए पशु-पक्षी, अप्सरा, दानव की बावडी, वर्जित स्थान, जादूगरनी, दरयायी घोडे, काठ की खडाऊ, काठ की पुतलियाँ, गुरु गोरखनाथ, ब्राह्मण, पुरोहित, देवी का इष्ट, सूर्य की उपासना, आराध्य का कोप, चोर, सत्य क्रिया, यात्रा की बाधाएँ, त्रिया चरित, मोहिनी विद्या, सांप, शकुन, साप की मणि, इन्द्र-लोक-युद्ध, भाग्यवान, पूर्वजन्म, प्रारब्ध, परलोक, तत्र-मत्र, लोक-देवी-देवता, यज्ञ अनुष्ठान आदि अनेक कथातन्तु हैं जो इस काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं । ये कथातन्तु काव्य की वस्तु को सरस विस्तार तो देते ही हैं, उसकी अर्थवत्ता को भी बढाते है । इन सम्पूर्ण कथा-तन्तुओ म लोक-मानस क्रियाशील है । लोक की अभेद-दृष्टि, कल्पनाशीलता, टोनावाद और अनुष्ठानवृत्ति इन कथा-तन्तुओ के अर्थ को स्पष्ट कर देते है ।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि 'निहालदे-सुलतान' मे अनेक अवान्तर कथाएँ है । उनका अध्ययन कर कथा के मानक-रूपो का निर्धारण भी किया जा सकता है । राजस्थानी के अन्य लौकिक प्रेमाख्यानो मे भी इसी प्रकार की समभावी अवान्तर कथाएँ मिलती हैं । तुलनात्मक दृष्टि से इन कथाओ के बीज-स्वरूप को ढूँढा जाना चाहिए ।

लोक-काव्य मे प्राय वर्णन-प्रधानता होती है । उत्सव, यात्रा, विवाह, युद्ध आदि का विस्तृत और पुनरावृत्तिपूर्ण वर्णन इसमे मिलता है । निहालदे सुलतान भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नही है किन्तु इसके अनेक स्थल अत्यन्त सरस

एव काव्योत्कर्ष से अभिमण्डित हैं। इसका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सहज है और स्थानीय परिवेश से रंजित है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे गहरी आत्मीयता और पारिवारिकता दिखाई देती है। परिवार की प्रतिष्ठा-रक्षा, मान्यताएँ और कभी-कभी व्यक्तिगत सनक और आग्रह-के वशीभूत होकर लोक के पात्र सामान्य-असामान्य आचरण करते है—हत्याएँ, युद्ध, अपहरण आदि जघन्य कृत्य इसी के परिणाम हैं। लोक-पात्रो के वार्तालाप सहज और निश्छल होते है। 'निहलदे-सुलतान' मे लोक-सस्कृति और लोक जीवन की इस सहजता को आद्यन्त देखा जा सकता है। दैत्य-दानव, अप्सराएँ, जादू-नगरी, जादूगरनियाँ, वर्जित प्रकोष्ठ आदि की घटनाएँ कथा की सहजता को खडित करती हुई-सी प्रतीत होती हैं, आधुनिक बोध वाले पाठक अथवा श्रोता को विचित्र सी लगती हैं किन्तु लोक-जीवन का यही यथार्थ है। आधुनिक जीवन के सन्त्रास, नैराश्य, जटिलता और एकाकीपन की पीडा से अभिशप्त व्यक्ति का लोक-जीवन की यह आत्मीय सहजता, व्यापक पारिवारिकता एक विचित्र मनस्ताप प्रदान करती है। निहालदे-सुलतान मे लोकमानव की गहरी सवेदना के दर्शन होते हैं।



एक साहित्यिक सर्वेक्षण

राजस्थान का सम्पूर्ण लोक-वाङ्मय अपनी समस्त विधाओं में विषय और शैली-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त सम्पन्न है। राजस्थानी लोक-नाट्य विधा तो और भी अधिक पुष्ट, वैविध्यमय और समृद्ध है। लोक-नाट्य पिछली कई शताब्दियों से राजस्थानी लोक में प्रतिष्ठित रहे हैं। लोक मनोरंजन के एक सशक्त माध्यम के रूप में ये आज भी इस प्रदेश में लोकप्रिय हैं।

राजस्थानी लोक-नाट्यों का उद्गम कैसे हुआ—उनकी विकास-परम्परा क्या रही—आनुष्ठानिक स्वरूप से यह कैसे लोकानुरंजन के एक प्रमुख और सशक्त माध्यम के रूप में विकसित हुये—इन सम्पूर्ण विषयों की गहराई और विस्तार में जाना इस सर्वेक्षण का अभीष्ट नहीं है। हाँ, मुद्रित-अमुद्रित लोक-नाट्यों के पढ़ने तथा लोक-नाट्यों के प्रदर्शन देखने पर यह धारणा अवश्य बनती है कि राजस्थान के आदिम जन समाज में (छठी-सातवीं शताब्दी में इस प्रदेश में केवल जन-जातियाँ ही रहती थी'—इतिहासकार एवं नृतत्त्व-शास्त्री ऐसा मानते हैं) आनुष्ठानिक रूप में यह प्रचलित थे। तब से किसी न किसी रूप में लोक-नाट्य राजस्थानी लोकसमाज में मिलता अवश्य है।

मध्यकाल में रास, चर्चरी, फाग खेलने की अथवा रमने की प्रथा राजस्थान में थी। सम्भवतः ख्याल, खेल, रम्मत, रामत आदि इन्हीं का रूपान्तर हो। १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से तो राजस्थानी लोक-नाट्यों के प्रदर्शन की अविराम परम्परा हमें मिलती है। इसी काल के समान्तर आगरा के आसपास लोककाव्य की ख्याल शैली ने जन्म लिया था। इस ख्याल शैली में उर्दू-फारसी का प्रयोग होता था। समय-समय पर इस ख्याल के दंगल होते थे। श्री उदयशंकर शास्त्री, श्री देवीलाल सामर, श्री अगरचन्द नाहटा इसी मत के हैं

कि राजस्थानी लोक-नाट्यों का जो वर्तमान रूप उपलब्ध है वह आगरा जिले की इस ख्याल शैली की ही देन है। इतिहास, पुराण और काव्य-कल्पना के बहुरंगी उपकरण और विषय-वस्तु इन लोक-नाट्यों में बहुलांश में हमें प्राप्त होते हैं।

लोक-नाट्य प्रकार

राजस्थान का भूगोल क्योंकि वैविध्यमय है—इसलिए एक अन्तर्लयी एकता के बावजूद कतिपय सांस्कृतिक विभिन्नतायें भी इस प्रदेश में दिखाई देती हैं। लोक-नाट्यों के रूप-शिल्प में तो यह और भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इन विभिन्नताओं को बहुरंगतायें कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ये आत्मगत न होकर बाह्य-स्वरूप गत हैं। मैदान, पठार, पहाड़ और रेगिस्तान का भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश निश्चित रूप से अभिव्यक्ति के माध्यम, सम्प्रेषण की विधा और लोक रंगमंच के स्वरूप को प्रभावित करता है। राजस्थान के लोक-नाट्यों में इसीलिए अनेकरूपता है। सम्प्रति इनके तीन मुख्य प्रकार मिलते हैं—ख्याल, स्वांग, लीलायें। ख्यालों के भी, रंगशैलियों के आधार पर, कई रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिए—कुचामणी ख्याल, शेखावाटी ख्याल, मेवाड़ी ख्याल, किशनगढ़ी ख्याल, जयपुरी ख्याल, नागौरी ख्याल, नौटकी ख्याल, माच के ख्याल, तुर्रा-कलंगी के ख्याल, अलीबक्षी ख्याल, हाथरसी ख्याल इत्यादि। पर मूल रूप में यदि प्रदेशगत शैली-भेद को हम भूल जायें तो यह सब मारवाड़ी ख्याल हैं जिन्हें अब हम राजस्थानी ख्याल कह सकते हैं। इतना अवश्य है कि इनमें केवल बोलीगत भेद ही नहीं हैं, शैलीगत भेद भी हैं—जैसे कुछ ख्यालों में पक्की गायकी को अधिक स्थान मिला है तो कुछ में गायकी सामान्य है। कुछ में वाद्यों और नृत्यों की बहु-रंगता को प्रधानता मिली है। कुछ में विविध छन्दों और धुनों की छटा की प्रधानता होती है तो कुछ में संवादों की मार्मिकता तथा चटकीली वस्त्रा-भूषणों की। किन्तु समग्र रूप से जब इन ख्यालों की कथावस्तु, भाषा, रंगशैली, रंगमंच-सरंचना, साज-सज्जा, वाद्य आदि पर विचार करते हैं तो इनमें एक अंतरंग तात्विक एकता के सचित्र दर्शन होते हैं। इसलिए यदि इतने भेद बनाकर इनका अध्ययन न भी करें तो भी राजस्थानी ख्यालों के मूल लक्षण और उनकी कला-सम्पन्नता प्रकट हो जाती है।

लीलायें राजस्थानी लोक-नाट्य का एक समृद्ध प्रकार है। इनकी कथावस्तु और पात्र पौराणिक होते हैं। रामलीला, कृष्णलीला, रासलीला, ध्रुवलीला, प्रह्लादलीला, नृसिंहलीला, सनकादिकों की लीलायें आदि इनमें प्रमुख हैं। अनेक लोक देवी-देवताओं के चरित्र को लेकर भी लीलायें लिखी गई हैं और उनका प्रदर्शन होता है। रावलों की रम्मत, गवरी, रासधारी, गिरासियों की लीला आदि को भी राजस्थानी लोक-नाट्यों में ही परिगणित किया गया है। इन लीलाओं में सर्वत्र भक्ति, श्रद्धा और पूजा भावना का चित्रण होता है। इनमें देव पात्रों के द्वारा आदर्श, मर्यादित जीवन का दिग्दर्शन कराया जाता है। इनके द्वारा लोकानुरंजन तो होता ही है किन्तु समाज में नैतिक आदर्श और सच्चरित्रता के प्रचार-प्रसार की भावना इनमें प्रमुख होती है। राजस्थान के गाँवों में घूम-घूम कर अनेक लीला मण्डलियाँ रामलीला और रासलीला का प्रदर्शन करती हैं। ग्राम्यांचलों की धर्मप्रवण जनता आज भी भक्तिभाव से इन लीलाओं का अवलोकन कर रसविभोर होती है। आधुनिक नाटकों, विशेषकर चलचित्र जगत का कुप्रभाव इन लीलाओं पर भी पड़ा है और व्यावसायिक लीला मण्डलियाँ अब चलचित्रों के हल्के-फुल्के गीत भी भोंडी नृत्य-भंगिमाओं के द्वारा मंच पर प्रस्तुत करने लगी हैं। इस प्रकार लीलाओं का सद्प्रयोजन अब भ्रष्ट सा होने लगा है।

बिसाऊ पाट्दा, भरतपुर, करौली आदि स्थानों की रामलीलायें आज भी राजस्थान में प्रसिद्ध हैं। जयपुर, कोटा, फुलेरा आदि स्थानों पर रामलीला-दल हैं जो प्रदेश में घूम-घूम कर अपने प्रदर्शन करते हैं।

रासलीला (कृष्णलीला) का मुख्य उत्सस्थल व्रजभूमि है। राजस्थान में राम-लीला करने वाली मण्डलियाँ मथुरा-वृन्दावन से ही आती हैं और वल्लभ सम्प्रदाय (नाथद्वारा, उदयपुर, कांकरोली, कोटा, सलेमाबाद) तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त-समाज में अपने प्रदर्शन करती है। भरतपुर, धौलपुर, अलवर क्षेत्र में कुछ रासलीला मण्डलियाँ बनी किन्तु कालान्तर में रासलीला से प्रेरणा पाकर राजस्थान में रासधारी ने जन्म लिया। मेवाड़ तथा फुलेरा के कुमावत रासधारी आज भी बड़े प्रसिद्ध हैं। रासधारी केवल कृष्ण की लीलाओं का ही प्रदर्शन नहीं करते—राम के जीवन की घटनाओं के अलावा, रामदेव, बनजारा हरिश्चन्द्र आदि के कथानकों को भी प्रस्तुत करते हैं।

अब रासधारी लोकनाट्य लुप्त-सा हो रहा है। इसके अनेक कारण हैं।

राजस्थानी लोकनाट्य का तीसरा प्रकार स्वाग है। वेश-धारण का अर्थ स्वाग है। जब यह वेश-धारण अत्यन्त वास्तविक होता है तो नकल और असल मे भेद करना कठिन हो जाता है। स्वाग केवल मनोरजन के लिये ही नही किये जाते। इनमे से कुछ का आनुष्ठानिक महत्व भी है। पर्वों-त्योहारो तथा विवाह पर किये जाने वाले स्वाग निश्चित रूप से आनुष्ठानिक महत्व रखते हैं। उनका हमारी धार्मिक मान्यताओ और निषेधो से गुह्य सम्बन्ध है। ब्याह, त्योहार, उत्सव पर इनका प्रदर्शन परिवार अथवा सामूहिक रूप मे होता है। ब्याल-झामटडे, टूटिया, चौकच्यानणी, नारचा का स्वाग, शेखावाटी का गीदड और होली का स्वाग इत्यादि प्रमुख है। गावो मे आज भी इनके अवशेष दिखाई देते हैं।

व्यावसायिक रूप मे स्वाग-धरने का कार्य करने वाली कुछ जातियाँ और वर्ग राजस्थान मे हैं जो रूप धर कर लोकानुरजन करते हैं। किन्तु अब आधुनिक शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन से ये भी प्रभावित हुये हैं और इस व्यवसाय से विमुख हो रहे हैं। अब बहुत कम भाड और बहुरूपिये राजस्थान मे बच गये हैं। जहाँ इन व्यावसायिक कलाकारो म सामाजिक मूल्यो के परिवर्तन के साथ हीनता भाव का उदय हुआ है, वहाँ रगमच, चलचित्र, रेडियो आदि के नये अनुरजक साधनो ने भी उनके व्यवसाय को क्षति पहुँचाई है।

रगमच

राजस्थानी लोक-नाट्यो के रगमच की साजसज्जा, आकार और सरचना की दृष्टि से कई प्रकार मिलते हैं। कुछ लोक-नाट्य बिना किसी मचीय सज्जा के जमीन पर त्रिपाल या जाजम बिछाकर, चार कानो पर चार बल्लियाँ गाड कर प्रस्तुत किये जाते है। इन्हें अमचीय लोकनाट्य कहा गया है। कुछ रगमच किसी मदिर की दीवार के सहारे तैयार किये जाते हैं और वे तीन पार से खुले होते हैं। कुछ गाँव के किसी विशाल चौक मे निर्मित किये जाते हैं और वे चारो ओर से खुले होते हैं। इन्हें क्रमश त्रिदिशीय और सर्वदिशीय रगमच कहा जाता है। कभी कभी मडप तान कर रगमच तैयार किया जाता है। कुछ रगमच किसी विशाल भवन की तिवारी अथवा बाहरी अट्टालिका मे तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार राजस्थानी लोक-रगमच के अनेक प्रकार

मिलते हैं पर इनमे अनेक ऐसी बातें और तत्व हैं जो समान रूप से सभी रगमचीय प्रकारो मे उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ–लकडी के पाटो का प्रयोग, एक-दो रूपो को छोडकर, सबमे किया जाता है। मच के चारो कोनो पर बल्लियाँ गाड कर उन्हे रगीन वस्त्रो, गोटा-किनारी अथवा लता-पत्तों-पुष्पो से सजाना एक आम रिवाज है। कुछ रगमचों पर श्वेत वस्त्र की चादरणी तानी जाती है। कुछ मच विशेष प्रकार के होते हैं—उनमे अट्टालिकायें और झरोखे बनाये जाते हैं। मच तक उतरने के लिये इनमे सीढ़ियां लगाई जाती हैं। ये राजा-रानियों के महल कहलाते हैं। तुर्राकिलगी के ख्यालो मे इस प्रकार के मच विशेष रूप से बनाये जाते है। मच के चारों किनारों पर रोशनी का प्रबन्ध होता है। पहले गाँव का नाई मशालें लेकर बैठता था। अब पेट्रोमेक्स अथवा बिजली के लट्टू लगाये जाते हैं। मच के पास एक ओर टेरियो और वादको के बैठने की व्यवस्था एक लघु मच बनाकर की जाती है। उस्तादजी का आसन भी वहीं मंच पर होता है।

इस प्रकार ये बहुरूपी मच अपनी साज-सज्जा और सरचना मे बडे सरल पर आकर्षक होते हैं। प्रसाधन कक्ष भी रगमच के पास ही किसी भवन के एक कमरे मे होता है और सभी पात्र अपना रूप धारण कर मच पर आकर बैठ जाते हैं। कभी-कभी उस्ताद के घर से ही पात्र अपना नाटकीय वेश धारण कर मच पर आते हैं। इन रगमचो मे एक खुलापन, सहजता और आत्मीयता होती है। दर्शक और कलाकार के बीच किसी प्रकार की दूरी और औपचारिकता नही रहती। एक विचित्र उन्मुक्तता के दर्शन इन रगमचों पर होते है। प्रदर्शन का सम्पूर्ण स्थल प्रेक्षागृह होता है। दर्शक मैदान मे, चबूतरो पर अथवा घरो और दुकानो की छतों पर बैठकर लोक-नाट्य का आनन्द लेते है। ये लोक-नाट्य क्योंकि पूरी रात चलते हैं इसलिये दर्शक सपरिवार बैठने की अपनी स्वय की व्यवस्था करके आते हैं। बीच-बीच मे निद्रा देवी का आनन्द भी लेते रहते है। लोक के पारिवारिक परिवेश मे नाटक चलता है और सूर्योदय तक चलता रहता है।

वाद्य यंत्र

प्रारम्भ मे इन लोक-नाट्यो मे केवल नगाडा और तुरही का प्रयोग होता था। नगाड़ो और तुरही की सख्या एक से अधिक होती थी, ढोल भी बजता था। फिर शहनाई वादक भी साथ देने लगे। तदनन्तर ढोलक, तबले और हार-

मोनियम को भी वाद्य यन्त्रों मे शामिल किया जाने लगा। और अब देखते हैं कि आधुनिक वाद्य यन्त्र भी काम मे लिये जाने लगे हैं। वायलिन, क्लार्नेट और सारगी का प्रयोग भी वाद्य यन्त्रो के रूप मे इन लोक-नाट्यो मे होने लगा है। इन वाद्य यन्त्रो के वादक बडे निपुण होते हैं। ये गायक अभिनेता लोक और शास्त्रीय गायकी मे अपने साजों की वादनकुशलता से चार चाद लगा देते हैं। क्योंकि लोक-नाट्यो मे सगीत के साथ नृत्य भी चलता है, इस लिये ताल और लय दोनो का ये ध्यान रखते हैं। वादको के पास टेरिये भी बैठे रहते हैं—ये टेरिये गायक अभिनेता की गायकी मे टीप स्वरों के साथ सहायता करते हैं। वादक भी बीच-बीच मे टेरियों का काम करते है। इस प्रकार अभिनेता, टेरिया और वादक का सहकार लोक-नाट्य के प्रदर्शन पक्ष को अत्यन्त मधुरिम, प्रभावक और हृदयस्पर्शी बना देता है। आकाश को गुजाने वाली टेर-ध्वनि, मच को तोड देने वाली नृत्यताल, वाद्यो की तेज अनुगूज सम्पूर्ण वातावरण को सगीतयुक्त बना देती हैं।

नृत्य :

राजस्थानी लोक-नाट्य कला की एक महत्वपूर्ण विशेषता है- और वह है इनके नृत्य (नाच)। यो तो सभी भारतीय लोक-नाट्यों मे किसी न किसी रूप मे नृत्य का अश रहता है किन्तु राजस्थानी लोकनाट्य मे भाग लेने वाले सभी पात्र—राजा, रानी, नौकर, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध नाचते हैं। ये नृत्य सामूहिक भी होते है और एकल भी होते है। इन नृत्यों मे यद्यपि नृत्य भगिमाओं का वैविध्य नही होता, कभी-कभी स्त्री और पुरुष के नृत्य मे भी भेद करना कठिन होता है किन्तु ताल-सौन्दर्य अवश्य मनोमुग्धकारी होता है। नगाडची अपने नगाडों पर नृत्य के टुकडे बजाता है और रगपात्र अपने पैरो की ताल से उन्हें प्रदर्शित करता है। बीच में कही नर्तक बेताला भी हो जाता है किन्तु अन्त मे सम पर तो आ ही जाता है। इन लोक नाट्यो मे प्रदर्शित नृत्यों मे न तो अधिक नृत्य-मुद्रायें होती हैं और न भाव-भगिमायें। सर्वत्र एक समरसता का आभास ये नृत्य देते हैं। फिर भी ये नृत्य लोक-नाट्यो के प्राण है।

राग-रागनियाँ :

राजस्थानी लोक-नाट्यो मे संगीत की छटा भी देखने योग्य है। इन ख्यालो के रचयिता उच्चकोटि के सगीतज्ञ थे। लोक राग-रागनियो के साथ शास्त्रीय

राग-रागनियो को भी लोक-नाट्यो मे स्थान दिया गया है। यह दूसरी बात है कि इन शास्त्रीय राग-रागनिया का निबधन सगीत-शास्त्र की दृष्टि से कितना सही है और अभिनेता तथा टेरिये इन्हे कितना सही गाते हैं। कुछ ऐसी लोक-नाट्य शैलियाँ है जिनमे शास्त्रीय राग-रागनियो को प्रधानता मिला है। उदाहरण के लिय—चिडावा शैली के लोक-नाट्य। इनमे लोक प्रचलित अनेक शास्त्रीय राग-रागनियो का समावेश हुआ है। हम नीचे उनकी सूची दे रहे है। इससे सिद्ध हो जाएगा कि लोक सगीत के साथ शास्त्रीय सगीत भी राजस्थानी लोक-नाटयो की एक प्रवृत्तिगत विशेषता है—

लावणी, रगत लगडी, रगत पहाडी, रगत झेला, रगत आरमी, रगत हिंडाल, रगत जानकी कव्वाली, रगत चौकडी, रगत खडी, चौबोली, पजाबी काफी, लावणी रगत छोटी, राग पहाडी, राग धुनताल, भैरवी, जगला, रगत तिलागी, कल्याण, भापाली, रगत घूमर्ण। सारठ सारग, राग माड, काल-गडी, केरवा, राग चन्द्रायण, गूजरी, झेली, राग सिन्धु, ध्रुपद, ठुमरी, तराना, टप्पा, दीपच-दी, खमायचा, आसा ठोडी, राग गारा, राग कमद, राग सारग, विहाग, राग पीलू, राग भिभाटी फाल्ता, राग आसावरी, राग जौनपुरी।

इसी प्रकार लोकसगीत की अनेक राग-रागनियाँ भी इन लोकनाट्यो मे समाविष्ट हुई हैं। माड उनमे प्रमुख है। मांड के अनेक रूपाकारा का भी समावेश लोक नाट्यो मे हुआ है।

इन ख्यालो मे सगीत का प्रस्तुत करने की भी एक विशेष प्रणाली है। पहले अभिनेता अपने सगीतमय सवाद की टेर पक्ति स्वर, लय और ताल के साथ प्रस्तुत करता है। फिर टेरिये उसे ऊँचे स्वरो मे दुहराते है। इस क्रम में अभिनेता अपना पूरा सवाद गाकर और नाच कर प्रस्तुत करता है। टेरिये पूरे समय टेर का और कभी कभी सवाद के अ य गेय अश का दुहराते रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रेक्षागह का वातावरण सगीत से अनुगु जित हो जाता है। कभी-कभी स्वय उस्ताद भी इस सगीत प्रदर्शन मे सम्मिलित हा जाता है।

सगीत स्वरूप के आधार पर भी राजस्थानी ख्यालो का वर्गीकरण मिलता है। जो ख्याल विलम्बित लय मे गाये जाते हैं उन्हे बडा ख्याल कहा गया है और जिन्हे द्रुत लय मे प्रस्तुत किया जाता है वे छोटा ख्याल कहलाते हैं। इसी प्रकार खडी रगत का ख्याल, लम्बी रगत का ख्याल, लगडो रगत का ख्याल,

लार्वानया ख्याल और वारामासिया ख्याल भी मिलते हैं। यह सब राजस्थानी ख्यालो की सगीतमयता के द्योतक हैं और प्रकट करते हैं कि राजस्थानी लोक-नाट्य सगीत शास्त्र के सबल आधार को लिए हुए हैं।

पात्रो की वेषभूषा :

राजस्थानी लोक-नाट्यो मे अनेक प्रकार के पात्र मिलते है। नाट्यो की विषय वस्तु के अनुकूल देवता, देवियाँ, लोक देवी-देवता राजा-रानी, दास-दासियाँ, भूत-प्रेत, राक्षस, शूरवीर, डाकू, चोर, हरकारा, दूत, सेठ-सेठाणी, पुरोहित, पडित, पडिताइन, प्रेमी, प्रेमिका इत्यादि बहुरगी पात्रो के दर्शन इनमे होते हैं। पर जब इनकी वेष-भूषा, रूप-प्रसाधन पर विचार करते हैं तो लगता है कि इस दृष्टि से पात्रगत यह भेदभाव अधिक गहरा नही है। या तो रूप-प्रसाधन की कला के उपकरणो का अभाव इसका कारण रहा है, या वह लोकदृष्टि जो वर्गीय बाह्य भेदभाव को अधिक महत्व नही देती। सभी पुरुष पात्रों के सर पर पगडी अथवा साफा मिलेगा—अतर केवल इतना ही मिलेगा कि आभिजात्य और श्रीमन्त वर्ग के पुरुष-पात्रो के साफे-पगडियाँ चटकीले रग की होगी और उन पर गोटा-किनारी लगी होगी और सामान्य अथवा निम्न-वर्ग के पात्रो की पगडी-साफे साधारण व पक्के रग के होगे। उनके अन्य वस्त्रो मे भी यह अतर दिखाई देगा। पुरुष-पात्रो के हाथ में तलवार, छडी अथवा छतरी होना सामान्य बात है। स्त्री-पात्र प्राय लहगा-ओढणी पहने होते हैं। अब साडी का रिवाज भी चल पडा है। पुरुष स्त्री-पात्रो के रूप मे मच पर आते हैं इसलिए उनके मुख पर प्राय. घूंघट पडा रहता है। पुरुष और स्त्री-पात्र दोनो सोना-चादी और मोतियो के आभूषण पहने रहते है।

राजस्थानी लोक-नाट्यो के पात्रो की वेषभूषा राजस्थानी पहनावे को प्रति-बिंबित करती हैं। राजस्थानी समाज का आकर्षक परिवेश मच पर प्रस्तुत हो जाता है। वेशभूषा मे प्रतीको का प्रयोग भी होता है। काले वस्त्र विधवा स्त्री अथवा शोक के प्रतीक माने जाते हैं। लाल-पीले रग वस्त्र के मगल के सूचक माने जाते हैं। इसी प्रकार मुकुट राजा-रानी का प्रतीक माना जाता है। तलवार राजपुत्र का प्रतीक है। वही और कलम वनिए के प्रतीक हैं। और भी ऐसे अनेक प्रतीक है जो पात्रो के सामाजिक स्तर को अथवा उनके व्यवसायगत भेद को प्रकट करते हैं।

प्रतीक विधान :

राजस्थानी लोक-नाट्यों के विधान और विन्यास में प्रतीकों का बड़ा सार्थक प्रयोग मिलता है। रगमच के निर्माण, दृश्यों के मच, पात्रों की वेशभूषा और पात्रों के अभिनय में अनेक प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग दिखाई देता है। *गवाक्षों, अट्टालिकाओं का निर्माण भी कुछ ऐसे प्रतीक-उपकरणों द्वारा किया* जाता है जो अन्त पुर और राजप्रासादों का अर्थ देते है। नदी, पहाड़, जगल, युद्ध-स्थल, श्मशान आदि के दृश्य और स्थल भी कुछ वस्तुओं, क्रियाओं और हावभावों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। वेशभूषा के प्रतीकों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इस प्रकार नाटकीय शिल्प की दृष्टि से ये नाट्य काफी कला सूक्ष्मतायें लिए हुए है।

लोक नाट्यों की भाषा

राजस्थान प्रदेश की भाषा तो राजस्थानी है। पश्चिमी राजस्थानी जिसे मारवाड़ी की सज्ञा दी जाती है शताब्दियों से इस प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। राजस्थानी के विरोधी यह कह कर लोगों को भ्रमित करते हैं कि इस प्रदेश की कोई एक परिनिष्ठत सार्वभौम भाषा नहीं है—यहाँ मारवाड़ी, मेवाड़ी, हाड़ौती, जयपुरी, मेवाती, दू डाडी आदि छ भाषायें हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व भिन्न-भिन्न छोटी-छोटी रियासतों और रजवाड़ों में रहने वाली जनता के उच्चारण पर वहाँ के भौगोलिक परिवेश का प्रभाव पड़ा और राजस्थानी के ही इतने शैलीगत रूप हो गये—अन्यथा व्याकरण की दृष्टि से इनमें कोई बड़ा भाषागत तात्त्विक अन्तर नहीं है। आभिजात्य साहित्य और लोक-साहित्य का भाषा रूप इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि राजस्थानी ही इस प्रदेश की एक-मात्र मूल भाषा है। राजस्थान के लोक-नाट्य तो इसके साक्षी है। हाँ, उच्चारणगत भेदों के कारण विभिन्न लोक-नाट्यों की भाषा में अन्तर मिलता है। शेखावाटी अचल में (चिड़ावा शैली) रचे गये ख्यालों की भाषा पर शेखावाटी का प्रभाव है। कोटा-बू दी में रचे गये ख्यालों की भाषा पर हाड़ौती का प्रभाव है। जैसलमेर, बीकानेर और मारवाड़ में रचे गए लोक-नाट्यों की भाषा शुद्ध मारवाड़ी है। भरतपुर, अलवर, धौलपुर, करौली के अचल में रचे गये ख्यालों की भाषा मेवाती है और उस पर ब्रज का स्पष्ट प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त इन लोक-नाट्यों की भाषा पर उर्दू-फारसी का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। शायद ही कोई ख्याल ऐसा हो जिसमें उर्दू-फारसी

का यह प्रभाव केवल लोक-नाट्यो की भाषा तक ही सीमित नही है—छन्दो और राग-रागनियो तक व्याप्त है। शेर, गजल, कव्वाली का लोक-नाट्या के छन्द-विधान मे प्रयोग इस तथ्य का साक्षी है।

कुछ ऐसे भी राजस्थानी ख्याल मिलते हैं जिन पर खडी बोली का प्रभाव भी दिखाई देता है। ये ख्याल ७०-८० वर्ष पूर्व के हैं और यह वह समय है जब राजस्थान में भी खडी बोली का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो गया था। यहाँ के लेखक भी खडी बोली की ओर आकृष्ट हुए थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी ख्यालो की भाषा मूल मे यद्यपि राजस्थानी है किन्तु प्रदेशगत उच्चारण-भेद उसमें स्पष्ट हैं। उर्दू फारसी, खडी बोली का भी स्पष्ट प्रभाव उसमे परिलक्षित होता है किन्तु भाषा का राजस्थानी लोक-परिवेश सर्वत्र सुरक्षित है।

छन्द विधान :

राजस्थानी लोक नाट्यो मे वर्णिक, मात्रिक और लोक छन्दो के कई प्रकार मिलते हैं। शेर, गजल और कव्वाली का प्रयोग भी कई ख्यालो मे मिलता है। इसी प्रकार दूहा, बडा दूहा, लगडा दूहा, झड, निसाणी, चौबोली आदि छन्दो का बहुलाश मे प्रयोग हुआ है। इनमे कुछ तो डिंगल काव्य के छन्द हैं और कुछ राजस्थानी लोकछन्द। छन्दशास्त्र के नियमो की दृष्टि से यदि इन छन्दो की सरचना पर विचार करें तो सभव है कि इनमे शास्त्रीयता का पूरा निर्वाह न हुआ हो। कही मात्रायें और वर्ण बढ गये हैं तो कही कम हो गए हैं। ह्रस्व और दीर्घ की भी रक्षा नही हो पाई है। यहाँ तक कि कुछ छन्दो मे यति, गति और तुक के सामान्य निर्वाह की भी उपेक्षा हुई है। इसलिए यह धारणा बनती है कि लोक-नाट्यो मे इनका महत्व छादिक न होकर सागीतिक ही है। यह सभी छन्द गाकर प्रस्तुत किये जाते हैं। इन्हे किसी न किसी शास्त्रीय अथवा लोक राग मे निबद्ध कर प्रस्तुत किया जाता है, अत छन्द की मर्यादाओ का अतिक्रमण आवश्यक हो जाता है। लोक-नाट्यो का कवित्त न हिन्दी काव्य का कवित्त है और न गजल उर्दू काव्य की गजल है। लोक-नाट्यो के रचयिताओ मे अपने शास्त्रज्ञान और बहुज्ञता के प्रदर्शन की प्रवृत्ति रही है—ये विविध छन्द इसी प्रवृत्ति के परिचायक होते हैं। इन छन्दो का अध्ययन सागीतिक आधार की दृष्टि से ही किया जा सकता है।

राजस्थानी के सभी ख्यालों में यों तो छन्दों का प्रयोग मिलता है पर लच्छी-रामजी, नान्हू राणा और उजीरा तेली के ख्यालों में विविध छन्दों की छटा दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कुचामणी शैली और चिड़ावी शैली के लोकनाट्यों में छन्दों की ओर रचयिताओं की प्रवृत्ति अधिक रही है। नीचे हम उन साहित्यिक छन्दों और लोकछन्दों की सूची दे रहे हैं जो राजस्थानी के मुद्रित ख्यालों में मिलते हैं।

झड़ावो, चौबोला, कवित्त मनहर, कवित्त, भूलना, रग रा दूहा, रेखता, भेला, चन्द्रायण, दोहा टुकड़िया, मत्ता, सिन्धु, शेर, चौपाई, दुबाला, दोहा, नाटक, चौघड़िया, गजल।

राजस्थानी लोक-नाट्यों के अखाड़े और उस्ताद-परम्परा

हम ऊपर उल्लेख कर आये है कि १८ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजस्थानी ख्यालों की परम्परा अविराम रूप से उपलब्ध होती है। इसी के अनुसरण में उस्ताद और अखाड़ों की परम्परा मिलती है। ख्याल प्रदर्शन की तैयारी कराने वाले, नाच-गाने का अभ्यास कराने वाले, संक्षेप में ख्याल के सम्पूर्ण निर्देशन की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को गुरु अथवा उस्ताद कहा जाता है। उस्ताद का संगीत, नृत्य, काव्य, वादन, अभिनय आदि कलाओं में निपुण होना आवश्यक होता है। ये उस्ताद कभी-कभी ख्यालों के लेखक भी होते हैं। इस प्रकार उस्ताद को अनेक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होता है। ख्यालों के मंचन की व्यवस्था भी लोक के सहयोग से ये उस्ताद ही करते हैं। ये उस्ताद राजस्थानी ख्यालों की किसी शैली विशेष के ख्याल ही प्रस्तुत करते हैं। उस्ताद के नाम से कालान्तर में फिर 'अमुक उस्ताद का अखाड़ा' लोक में प्रचलित हो जाता है। शैली विशेष के ख्यालों के साथ कलाकारों की विशेष मण्डली के अर्थ में भी अखाड़ा अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार कभी-कभी एक गाव में एक से अधिक अखाड़े होते हैं। इन अखाड़ों में नाट्य प्रदर्शन की प्रतियोगिताएँ होती रहती है। उस्ताद और अखाड़ा परस्पर इतने जुड़े हुए होते हैं कि वे समानार्थक हो गए हैं।

शोध और अनुसंधान से पता लगता है कि राजस्थान में सबसे पहले सहेदूसिंह नामक व्यक्ति ने तुर्रा-किलगी ख्याल का अखाड़ा चित्तौड़ में शुरू किया था। ये जाति से गौड़ ब्राह्मण थे। इस उस्ताद-परम्परा में रूपचन्द, छोटूलाल,

सेमचन्द, चम्पालाल, मूलचन्द, स्यालीराम, गब्बूलाल, भवानीशंकर, हरिशंकर, रामसुख आदि हुए। इन उस्तादो द्वारा रचित कुछ स्याल आज भी उपलब्ध होते हैं। इस अखाड़े के मुख्य उस्ताद वर्तमान में चेनाराम हैं।

उदयपुर के घोमूंडा ग्राम में हमीद बेग तथा ख्वाजाअली नामक दो उस्ताद हुए—ये ख्याल लेखक भी थे। तुर्रा-किलगी के अनेक ख्याल इन्होंने तैयार किये। खाजू कागजी इस अखाड़े के वर्तमान कलाकार हैं।

तुर्रा-किलगी ख्यालो के अन्य अखाड़े पाटन, बसी, निम्बाहेड़ा, भुकडेश्वर, सावा, जयपुर, अजमेर, कनेरा, किशनगढ़, रामगढ़ आदि नगरों में कार्यशील रहे हैं। आज भी इनमें से कुछ स्थानों पर तुर्रा-किलगी के कलाकार मिल जाते हैं।

करौली तुर्रा-किलगी ख्यालो का गढ़ रहा है। वहाँ तुर्रा और किलगी दोनो के अखाड़े आज भी विद्यमान हैं। रघुनाथ गिरी, नत्थु उस्ताद, जौडीलाल शर्मा, भुन्लन खां उस्ताद इन ख्यालो का प्रदर्शन अपनी-अपनी मंडलियो द्वारा समय-समय पर राजस्थान और राजस्थान के बाहर जाकर करवाते रहे हैं।

पंडित लच्छीरामजी कुचामणी ख्याल-शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। ये कुचामण निवासी थे और बाद में बूड़सू जाकर रह गए थे। हुकमीचन्द पुष्करणा इनके उस्ताद थे। लच्छीरामजी के अखाड़े कई जगह थे—कुचामण, बूड़सू, मीठड़ी, नावा, बोरावड़, बेसरोली, परवतसर, रूपनगढ़, टेगाना, मेड़ता, गच्छीपुरा, बड़ू इनमे प्रसिद्ध हैं।

शेखावाटी शैली के ख्याल के प्रवर्तक प्रह्लादीराम भालीराम पुरोहित कहे जाते हैं। ये फतहपुर के रहने वाले थे। इनके द्वारा रचित ख्याल आज भी उपलब्ध हैं और छन्दो, राग-रागनियों तथा नाट्यकला की दृष्टि से बड़े उत्कृष्ट है। चिड़ावा शैली के प्रमुख उस्ताद नानूराणा प्रारम्भ में इनके अखाड़े में ही काम करते थे। बाद में इन्होंने चिड़ावा शैली का प्रवर्तन किया। नानूराणा का शिष्य उजीरा तेली था—उसने भी अपनी अलग मंडली बना ली थी। किन्तु मूल में ये सब प्रह्लादीराम मालीराम के अखाड़े के ही अंग माने जायेंगे।

सीकर, खण्डेला, इन्द्रपुरा, चिडावा आदि शेखावाटी ख्यालो के प्रमुख अखाडे रहे हैं।

वर्तमान मे चिडावा शैली का दूलजी राणा का दल चिडावो मे कार्यशील है।

राजस्थान मे नौटकी के कुछ दल भी कार्यशील हैं। भरतपुर और डीग मे इनका सबसे पहले प्रारम्भ भूरीलाल नामक उस्ताद ने किया था। इनके बाद नौटकी अखाडे की परम्परा मे नत्थाराम का नाम मिलता है—ये ख्याल लेखक भी थे। कामा, धौलपुर, बसेडी, पहाडपुर, रूपावास, मावोद आदि गावो मे जो भरतपुर-धौलपुर जिलो मे अवस्थित हैं—नौटकी के अखाडे आज भी विद्यमान हैं।

अलीबख्श नामक एक टीकायत राजपूत मडावर (अलवर) मे हुए। उन्होंने अलीबख्श ख्याल-शैली का प्रवर्तन किया। इस शैली के ख्यालो मे शास्त्रीय राग-रागनियो और ठुमरियो की प्रधानता रहती है। आज इस शैली की नाट्य मण्डली कही दिखाई नही देती।

बशीधर तथा सेसदास किशनगढी रगत के उस्ताद हुये। इनके अखाडे सलेमाबाद, नसीराबाद, रूपनगढ अजमेर मे हैं।

जैसलमेर की रम्मता का प्रवर्तन तेजकवि ने किया। तेजकवि का अखाडा आज भी वहाँ प्रसिद्ध है। बीकानेर मे भी बीकानेरी रम्मतो के कई अखाडे आज भी विद्यमान हैं—इनमे आचार्यों का चौक रतानियो का चौक, व्यासो का चौक, हर्षों का चौक, गोसाईयों का चौक, मूदडो का चौक, दमाणियो का चौक, बल्लो की गुवाड के अखाडे बहुत प्रसिद्ध हैं।

जयपुरी रगत के ख्यालो का प्रारम्भ जयपुर नरेश प्रतापसिंहजी के काल (स० १८३५-१८६०) मे हुआ। उस समय बशीधर भट्ट जयपुरी ख्यालो के प्रसिद्ध उस्ताद थे। इनकी शिष्य परम्परा में फूलजी हुए जो अपनी ख्याल गायकी के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। सम्प्रति फूलजी के पुत्र गोपीकृष्ण जयपुर की ब्रह्मपुरी मे छोटे अखाडे के उस्ताद है और वे ही इसका सचालन करते है।

ख्याल लेखक :

ऊपर उस्ताद परम्परा और अखाडे के प्रसग मे हम उल्लेख कर आये है कि

अखाडों के उस्ताद प्राय ख्याल लेखक भी होते थे। इस सन्दर्भ में फतहपुर निवासी प० प्रह्लादीराम शालीराम पुरोहित, कुचामण निवासी लच्छीराम, चिड़ावा निवासी नानूराणा, ऊजीरा तेली, दूलजीराणा, जैसलमेर के कवि तेज, किशनगढ के वधीधर आदि ख्याल लेखकों का उल्लेख कर आये हैं। ये उस्ताद के साथ सफल ख्याल लेखक भी थे। जो मुद्रित और अमुद्रित राजस्थानी ख्याल आज उपलब्ध होते है, उनके देखने पर अनेक और भी ख्याल लेखकों के नाम हमारे सामने आते हैं। वे निम्नांकित हैं—

रामसिंह पुरोहित (बरणा), बशीलाल शर्मा (परोली), अम्बालाल, (नादौल), कल्याणराम शर्मा (गोटियान), दौलतसिंह और राम मिख-वाल (डेदा), भगवतीप्रसाद (जमरापर), डालू (नवलगढ), जीतणी-सागरमल (कुचामण), शिवदयाल (लाविया), अम्बालाल (अजमेर), किसनलाल (नसीराबाद), चुन्नीलाल (चिडावा), श्यामस्वरूप (डीडवाना), रामदास (हुरडा), रामगोपाल (बाप) मागीलाल गौड (परबतसर), सुआलाल जातगी (परबतसर), तेजकवि (जैसलमेर), सेसदास शर्मा (किशनगढ), अलीबक्स (मडावर), अकबर मीर (सीकर), ठा० गजाधरसिंह (फतहपुर), प्रेमसुख भोजक, भूरजी जडिया (बारावड), गणपतलाल ब्राह्मण (बरवाली) हरसुखजी (जायल बटौती), प० अनधड डौल, गोविन्द सेठ (खाटू), हरसुख मथुरादास जाशी (जावला), रामचन्द्र पारीख (बीकानेर), प० मातीलाल (इन्दौर), पूनमचन्द मिखवाल (डेंडा), फतहचन्द, सेवक बच्छराज (मेडता), भालीराम निर्मल, नापूलाल (जावद), पेरुलाल लच्छीराम मानी (कामठी) पूनमचन्द शायर, हरकरण गौड, रामेश्वरलाल (गुरु माधोराम), प० रामलाल, काशीराम पुरोहित (मारवी), प० शेयदास, प० पसारीलाल नददास (नीमच), बिच्छूलाल (मेडता), सुन्दरलाल अग्रवाल, बद्रीदास माथुर, वैद्य शिवकरण (मू डवा), चिमनलाल शिवकरण, भानीराम पुरोहित (जोधपुर) वसन्तरामजी (जोधपुर), पूनमचन्द (पाली), चमनलाल उस्ताद, गिरधारीलाल, शालिग्राम, रामरतन दरक (मू डवा), लक्ष्मीनारायण माहेश्वरी, बाल व्यास, भूती जोशी, कवि शिवकरण, भवरसिंह, बशीर जुलाहा, गोविन्द-राम भण्डारी।

उपरोक्त लेखकों के अतिरिक्त अनेक ऐसे ख्याल लेखक हो गये हैं जिनके नाम प्रकाश मे नही आये अथवा जो आज तक अज्ञात बने हुए हैं। राजस्थान के

विविध सग्रहालयो मे सग्रहीत ख्यालो के गुटको के अध्ययनोपरान्त और बहुत से नाम मिल सकते हैं।

प्रकाशन ।

राजस्थानी मे लिखित ख्यालो की परम्परा १८ वी शताब्दी के उत्तरार्ध से अक्षुण्ण मिलती है। विविध शोध सग्रहालयो मे एव कुछ उस्तादो के पास उपलब्ध ख्याल-गुटको के अवलोकन से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। राजस्थान मे मुद्रण यत्र की सुविधा बहुत बाद मे उपलब्ध हुई अत प्रारम्भ मे ख्याल अधिकाश बम्बई, पूना, इन्दौर मे प्रकाशित होते थे। प्रकाशित ख्यालो की परम्परा स० १९३५ से निरतर मिलती है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, गगा विष्णु, श्रीकृष्णलाल, बम्बई ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, यूनिवर्सल प्रेस, बम्बई, लाला परसीमल अग्रवाल प्रेस, मथुरा, हनुमान विजय छापाखाना, बम्बई श्यामकाशी प्रेस, मथुरा आदि स्थानो से अनेक राजस्थानी ख्याल प्रकाशित हुए। जोधपुर के मत्री भीकमचन्द बुकसेलर, जयपुर के कन्हैयालाल बुकसेलर ने भी सैकडो राजस्थानी ख्याल प्रकाशित किये हैं।

जैसलमेर, अजमेर, किशनगढ, बीकानेर, करौली, कुरडा, जालना, भरतपुर, झुंझुनू मिंडी, उदयपुर, भीलवाडा, बाप आदि स्थानो से भी राजस्थानी ख्यालो का प्रकाशन हुआ है।

लोक-नाट्य दल :

राजस्थानी लोक-नाट्यो के विस्तार क्षेत्र का अध्ययन करने के पश्चात् हम यह अत्यन्त सरलता से कह सकते हैं कि लोकानुरजन के एक लोकप्रिय सशक्त माध्यम के रूप मे राजस्थान के प्रत्येक खड अनुखड मे लोक-नाट्य दल किसी न किसी रूप में मिल जाते है। उस्तादो और अखाडो की दो सौ वर्षों की लम्बी परम्परा भी यह सिद्ध करती है कि राजस्थान के कोने-कोने मे ख्याल मडलियाँ थी। इन्हे लोकाश्रय के साथ राज्याश्रय भी प्राप्त था। राजस्थान के अतीतकालीन लोक-नाट्य दल और वर्तमान मे कार्यशील मडलियो का पूरा परिचय प्राप्त कर लेना यद्यपि परम महत्वपूर्ण कार्य है किन्तु है अत्यन्त कठिन। इस सर्वेक्षण का भी एक उद्देश्य यह था कि जहाँ तक सम्भव हो कार्यशील लोक-नाट्य दलो की पूरी सूचनायें एकत्र की जाय। कठिन प्रयत्नो के बावजूद भी हमे इस कार्य मे सफलता नही मिल पाई—इसके अनेक कारण

हैं। जिन गाँवो और नगरो मे अव्यावसायिक रूप से ख्याल और रम्मतों का प्रदर्शन यदा-कदा होता है उनका कोई सगठित स्वरूप नही है। राजस्थान मे अनेक ऐसे नगर और गाँव हैं जहाँ केवल शौक और रूचि के तौर पर जाति अथवा मोहल्ले के आधार पर लोक-नाट्यो का आयोजन होता है। व्यावसायिक लोक-नाट्य मडलियो की प्रवृत्ति प्राचीन काल मे यहाँ बिल्कुल नही रही। पिछले पाँच-छ दशको मे उत्तर प्रदेश व अन्य सीमावर्ती प्रदेशो के अनुकरण में यहाँ भी व्यावसायिक मडलियाँ बनी। सगठन-कुशलता और प्रबन्ध-बुद्धि के अभाव मे उनमे से बहुत सी अकाल ही बन्द हो गई। वर्तमान मे जो कार्यशील हैं, वे भी व्यावसायिक रूप से सुगठित नही हैं। इसलिए मडली के कलाकारो को पर्याप्त स्थाई आजीविका इनसे नही मिल पाती। सब कलाकार मडलिया को छोडकर कोई दूसरा जीविकोपार्जन का साधन ढूढने के लिए विवश होते हैं। मडलियो के बहुत से कलाकार या तो खेती पर आश्रित हैं या फिर छोटी-बडी दुकान चलाते हैं। हमने लोक-नाट्य मडलियो से इस प्रकार की जानकारी ली थी। दूलजी राणा का दल (चिडावा) और श्री भालेश्वर लोक-नाट्य दल (मेडता) इस दृष्टि से चाहे अपवाद हो, शेष सभी लोक कलाकारो की स्थिति यही है। अत निष्कर्ष यही निकलता है कि आजीविका के पर्याप्त आकर्षण के अभाव मे राजस्थान मे लोक-नाट्य दलो का व्यावसायिक स्तर पर गठन नही हो पाया।

इन लोक-नाट्य दलो के उस्ताद, सचालक और कलाकार अधिक पढे लिखे नही हैं। उनकी दृष्टि आधुनिक नही हो पाई। ये पुरानी मर्यादाओ से बधे हुए हैं। नये-प्रभाव के नाम पर वे सस्ते सिनेमा के गाने, चमक-दमक वाली वेश-भूषा, कैबरा नृत्यों की कामुक मुद्राओ और अर्धनग्नता को ग्रहण कर रहे हैं। आज भी उनके पास प्रदर्शन करने के लिए पुराने ख्याल ही हैं। नई सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक जीवन्त समस्याओ से परिचित आधुनिक भाव बोध वाला न कोई उस्ताद है और न कोई ख्याल है, और न कोई ख्याल लेखक। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। कलाकार भी अधिक पढे-लिखे नही हैं। अधिकाश कलाकार उस्ताद के परिवार के सदस्य ही होते हैं। स्त्री-पात्रो की भूमिका पुरुषो को निभानी पडती है। किन्तु न तो शिक्षित युवतियाँ इतना साहस बटोर पाती हैं कि वे लोक-रगमच पर आकर अभिनय करें और न राजस्थान का समाज ही अभी इतना प्रगतिशील हुआ है कि वह यह सब सहन करले।

उपरोक्त समस्त स्थितियों पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष । कुछ प्रस्ताव :

राजस्थानी लोक-नाट्यों के उपरोक्त विवेचन-सर्वेक्षण के पश्चात् यह कुछ तथ्य स्पष्ट रूप से उद्घाटित होते हैं कि इस प्रदेश में लोक-नाट्यों की परम्परा काफी प्रचीन है—लोक और राज्य दोनों ने इन्हें आश्रय दिया था। शैली-शिल्प और विषयगत विविधता के साथ काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और संगीत शास्त्र की दृष्टि से भी ये लोक-नाट्य समृद्ध और सम्पन्न हैं। लोकहृदय की कलात्मकता, प्रदेश के बहुरंगी सामाजिक परिवेश, लोकसंस्कृति के अनेक प्रत्यक्ष और गुह्य परिप्रेक्ष्य इन ख्यालों में उजागर हुये हैं। अपनी नाटकीय सामर्थ्य के द्वारा ये शताब्दियों से लोकानुरंजन करते आये हैं और आज भी इनके प्रति लोक का आकर्षण कम नहीं हुआ है। पर सम्प्रति इनकी स्थिति निराशाजनक है।

यद्यपि मैं इस अध्ययन में सवा तीन सौ मुद्रित लोक-नाट्यों की सूचनायें ही जुटा पाया हूँ। इसी प्रकार प्रदेश के समस्त कार्यशील लोक-नाट्य दलों की जानकारी प्राप्त करने में भी मैं असमर्थ रहा हूँ। किन्तु मेरा विश्वास है कि अभी अनेकों ऐसे मुद्रित लोक-नाट्य और कार्यशील दल है जिनकी सूचनायें एकत्र नहीं कर पाया। पाण्डुलिपियों के रूप में अनेकों लोक-नाट्य अभी संग्रहालयों के गुटकों में अथवा व्यक्तियों के पास पड़े हुए है। इन सबकी सूचनायें प्राप्त करने के लिये अटूट धैर्य और श्रमनिष्ठा की आवश्यकता है—यह कार्य समयसाध्य और अर्थसाध्य तो है ही पर इस कार्य को पूरा अवश्य करना चाहिये।

इस सर्वेक्षण-अध्ययन के दौरान कुछ प्रश्न मेरे मन में उठे हैं—

(१) राजस्थान का यह समृद्ध लोकमंच शिथिल और विलुप्त हो रहा है। इसकी रक्षा कैसे की जाय ?

(२) इस लोकमंच को जीवन्त सामाजिक संदर्भो से किस प्रकार जोड़ा जाय ?

(३) लोक-नाट्य मण्डलियों का पुनर्गठन कर किस प्रकार उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाया जाय।

यह तो साफ है कि हमारे गावो मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जो महज बौद्धिक चेतना आई है और देश मे चल रही औद्योगिक क्रान्ति के साथ भविष्य मे जीवन-सन्दर्भो मे जो बौद्धिक और नैतिक परिवर्तन आयेंगे उनके विरुद्ध लोकमच अपने आदिम मूल रूप मे जीवित नही रह सकता। तब इन सभी प्रश्नो पर सन्तुलित मन से सोचने की आवश्यकता है और साथ ही रचनात्मक रूप मे योजना बना कर कुछ ठोस कार्य करने की आवश्यकता है।

यह कहना तो असगत और अनुचित होगा कि यह कार्य राजस्थान सगीत नाटक अकादमी को ही करना है। यह हमारे समूचे लोक से सम्पृक्त कार्य है—लोक चेतना का विकास हमारे समूचे समाज पर निर्भर है पर लोकमच की रक्षा करने की दिशा मे अकादमी कुछ प्रारम्भिक कार्य तो कर ही सकती है। उदाहरण के लिए प्रान्त मे जो लोक-नाट्य दल कार्यशील है उन्हे मान्यता देकर अकादमी उनके लिये स्थायी आर्थिक साधन जुटाए। यह कार्य अकादमी कितना कर सकती है और कैसे कर सकती है—इस पर अधिकारी स्वय विचार करें। प्रति वर्ष प्रान्त मे लोक-नाट्य प्रतियोगिता का आयोजन अकादमी को करना चाहिए—अच्छे प्रदर्शनो को पुरस्कृत किया जाना चाहिए—इसी प्रकार लोक रगमच कलाकारो को प्रान्तीय स्तर पर सम्मानित किया जाना चाहिये।

लोक-नाट्य अभिनय कला का प्रशिक्षण देने के लिये प्रान्त मे एक सस्थान की स्थापना की जानी चाहिए, जहाँ आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियाँ इस कला की शिक्षा ग्रहण कर सकें। नई उष्मा, नये रक्त के प्रवेश के साथ लोक-रगमच के विषय, सस्कार और शिल्प की असगति, बासीपन और निरर्थकता भी स्वत ही दूर हो जायेंगे। लोक-नाट्यो के विषय आधुनिक जीवन से सम्पृक्त हो, इसके लिये आवश्यक है कि लोक-नाट्यो की शैली मे नये ख्यालो की रचना ही हो और यह तभी सम्भव है जब राजस्थानी के नये लेखक लोकमच के साथ स्वय को जोडें।

राजस्थानी लोक-रगमच का पुनर्गठन और पुनरोद्धार एक जीवन्त प्रश्न है। प्रान्त के बुद्धिजीवियो, रगकर्मियो, समाजसेवियो तथा अकादमी के अधिकारियो को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। मैं समझता हूँ कि यह कार्य इतना सरल नही है, किन्तु इसकी अब अधिक उपेक्षा भी नही होनी चाहिए।

संरक्षण की समस्याएँ

राजस्थान की लोकनाट्य-परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। हमारे ग्राम्यांचलों में बसे लोक के मनोरंजन का यह एक सशक्त माध्यम रहा है। कुचामणी रंगत, शेखावाटी तर्ज, चिड़ावा शैली, रासधारी, भवाई, नौटंकी, तुर्रा किलगी आदि राजस्थान में प्रचलित लोकनाट्य रूप, इस समृद्ध विधा के प्रमाण हैं। बड़े-बड़े गाँवों में प्रायः किसी न किसी लोकनाट्य शैली से सम्बद्ध अखाड़े (नाट्य दल) हुआ करते थे। गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर अव्यावसायिक रूप में ये अखाड़े काम करते थे। गाँव या रंगप्रेमी समाज इन अखाड़ों का वित्तीय भार वहन करता था। ये नाट्य-मंडलियाँ आस-पास के गाँवों में जाकर भी अपने ख्यालों का प्रदर्शन कर लोकानुरंजन करती थीं। लोककलानुराग की यह स्वस्थ परम्परा शताब्दियों तक हमारे प्रदेश में अक्षुण्ण रही है। लोक के आभिजात्य वर्ग ने भी इसे प्रश्रय दे रखा था। कुछ मंडलियाँ आज भी विद्यमान हैं। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारी समूची लोकजीवन-व्यवस्था में एक अमन्द परिवर्तन का चक्र चला। आधुनिक शिक्षा के प्रचार, शासन व्यवस्था के परिवर्तन, आर्थिक उथल-पुथल और राजनैतिक प्रबुद्धता ने गाँवों में रहने वाले लोक की दृष्टि को भी काफी सीमा तक प्रभावित किया। परिणाम-स्वरूप परम्परा से चले आने वाले मूल्यों और आस्थाओं के प्रति एक सहज विरक्ति के भाव ने लोकरुचि को ग्रस लिया। सामाजिक विक्रान्ति में वे आधार भी टूटने लगे जहाँ से इन लोक-कलाओं को शक्ति और प्रेरणा मिलती थी।

आज स्थिति यह है कि लोकनाट्य की इन विविध शैलियों से सम्बद्ध अखाड़े और नाट्यदल राजस्थान में नाम-मात्र को शेष रह गये हैं। रंगमंच मानव संस्कृति का एक महत्वपूर्ण उपादान माना गया है। वह जीवन के विभिन्न *अनुभवों के आस्वादन द्वारा हमारे मन को अधिक संवेदनशील और ग्रहणशील*

बनाता है, हमारे भीतर सह-अनुभूति और द्रवित होने की क्षमता को न केवल जीवित रखता है अपितु उसे प्रबल और तीव्र करता है। किसी उपयोगी विचारधारा अथवा दर्शन के प्रचार-प्रसार का भी यह एक अत्यन्त सशक्त कलात्मक माध्यम है। आज हमारी जनवादी व्यवस्था में तो इसकी उपादेयता और भी बढ जाती है, किन्तु इस सबकी महत्ता स्वीकार करके भी इस विलुप्तमान लोकरंगमंच की सुरक्षा और संरक्षण के लिये हम क्या कर रहे हैं? यह एक महत्वपूर्ण और गम्भीर प्रश्न है।

अखाड़े नि:शेष हो रहे हैं, ख्याल की रचना करने वाले लेखकों, निर्देशन देने वाले उस्तादों, रंगकर्मियों के दर्शन भी अब दुर्लभ हो रहे हैं। इस स्थिति के कारण स्पष्ट हैं। हमारे प्रदेश में व्यावसायिक दृष्टि से लोक-रंगमंच का गठन कभी नहीं हुआ। यह कला लोकाश्रय में पोषित हुई। अवकाश की घड़ियों में सहज अभिरुचि की प्रेरणा रंग-प्रेमियों को मंच पर प्रस्तुत करती थी। अपवाद रूप में, कुछ मंडलियाँ भी थी जिन्हें अर्द्ध व्यावसायिक कह सकते हैं। आधुनिक जीवन की आर्थिक जटिलताओं ने व्यक्ति को इतना व्यस्त कर दिया है कि अब उसके पास इतना अवकाश नहीं कि वह लोक रंगमंच को समय दे। फिर विज्ञान-प्रभावित आधुनिक जीवन-दृष्टि ने गाँवों के लोक को भी इतना संक्रमित किया है कि वह भी क्रमशः परम्परा-विमुख होता जा रहा है। जीविकोपार्जन की दृष्टि से लोकरंगमंच पर्याप्त व्यवसाय नहीं है। इन वास्तविकताओं में लोकमंच जीवित कैसे रह सकता है?

तो समस्या यह है कि लोकानुरंजन एवं सामाजिक शिक्षण के इस प्रभावशाली माध्यम को कैसे बचाया जाय? यहाँ यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि राजस्थानी लोक नाट्यों की विषय-वस्तु अधिकांश में सामन्ती समाज व्यवस्था और परिवेश से जुड़ी हुई है। यहाँ तक कि धार्मिक और पौराणिक लोक-नाट्यों द्वारा प्रस्तुत जीवन मूल्य भी आज अनुपयोगी और संदर्भहीन हो गये हैं। तब इस परम्परा का स्वतः ही नि:शेष क्यों न होने दें! किन्तु प्रश्न ख्यालों की विषय-वस्तु के संरक्षण का नहीं है, लोक रंगमंच की सशक्त विधा और लोकानुरंजनी कला के संरक्षण का है। जीवन के नये संदर्भों, परिप्रेक्ष्यों, समस्याओं का सन्निवेश कर ख्यालों की विषय-वस्तु को संजीवित किया जा सकता है। इन ख्यालों के शिल्प और रूप को ग्रहण कर वर्तमान बोध के नये

ख्यालो की रचना की जा सकती है। इसलिए यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी लोक सरकार का ध्यान भी इस महत्वपूर्ण विषय की ओर गया अवश्य है। राजस्थान संगीत नाटक अकादमी की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी कि यह राजस्थान के लोक संगीत और लोक-रंगमंच के संरक्षण और विकास की दिशा मे कार्य करे। इस संस्था ने निश्चित रूप से कुछ महत्वपूर्ण कार्य किया है। लोक नाट्यो की जो विधाएँ हमारे प्रदेश मे उपलब्ध है, उनका सर्वेक्षण कर यह संस्था समय-समय पर लोक नाट्यो के प्रदर्शनो का आयोजन करती है। लोक रंगमंच से सम्बन्धित समस्याओ पर विचार गोष्ठियो का आयोजन भी यह संस्था करती है। कुछ विशिष्ट ख्याल शैलियो के टेप और फिल्म इसने तैयार किये हैं। इस दिशा म भारतीय लोक कला मंडल द्वारा किये गये कार्य का तो ऐतिहासिक महत्व है। राजस्थान की यह एकमात्र गैर सरकारी संस्था है जो अत्यन्त निष्ठापूर्वक लोक रंगमंच के क्षेत्र मे पिछले कई वर्षो से कार्य कर रही है। निष्ठावान कलासाधक श्री देवीलाल सामर के नेतृत्व और मार्ग निर्देशन मे इस संस्था ने समूचे कला-जगत मे एक गौरवपूर्ण स्थान अर्जित किया है। संस्कृति प्रेमी समाज फिर से लोक रंगमंच मे कुछ रुचि लेने लगा है। किन्तु संरक्षण का प्रश्न केवल यहीं तक ही सीमित नही है कि लोकनाट्य की विधाओ का अध्ययन अनुसंधान कर उन पर ग्रन्थ प्रकाशित किये जायें, प्रान्त मे विद्यमान कुछ अर्द्ध व्यवसायिक लोक नाट्य मंडलियो को आर्थिक सहायता देकर उनके मंचन की व्यवस्था की जाय। संरक्षण का प्रश्न व्यापक अर्थ रखता है और वह यह कि लोकरुचि का पुनः इस प्रकार विस्तार और परिष्कार किया जाय कि गाँवो के निवासी स्वयं लोकरंगमंच को पुनर्जीवित करें। इस दिशा म हमारे यहाँ काम तनिक भी नही हुआ।

इस सम्पूर्ण स्थिति पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। इस दिशा म पहला काम तो यह किया जा सकता है कि प्रदेश के उन क्षेत्रो का सर्वांगीण सर्वेक्षण किया जाय जहाँ यह ख्याल-पद्धतियाँ और अखाडे कभी कार्यशील थे। इन विविध अखाडो से सम्बधित परिवार आज भी कई गावो मे विद्यमान है—ऐसे अनेक व्यक्ति भी हैं जो अपने समय के अच्छे अभिनेता थे किन्तु आज बिखर गये हैं। इन्हे पुनः संगठित कर लोक रंगमंच की ओर उन्मुख किया

जा सकता है। आर्थिक अनुदान देकर उन अखाड़ों को पुनर्जीवित किया जा सकता है। गांवों में ऐसी संस्कृति-परिषदें स्थापित की जायें जो सांस्कृतिक अन्य कार्यों के साथ लोकरंगमंच को भी सक्रिय करें।

लोक-कलाकारों की समस्या भी विचारणीय है। इन वर्षों में व्यक्ति की भौतिक इच्छाओं और जीवन-स्तर में निरन्तर अभिवृद्धि हो रही है। इससे आजीविका के वर्तमान साधन अपर्याप्त होते जा रहे हैं। लोकरंगमंच कलाकारों को इतनी आजीविका नहीं दे पाता कि वे इससे अपने पूरे परिवार का भरण-पोषण कर सकें। इसलिये इसका समाधान यह है कि लोकरंगमंच का व्यावसायिक आधार पर गठन किया जाय। अभिनेताओं को आकर्षक और स्थायी वेतन दिये जाय। तब लोक रंगमंच लाभदायक व्यवसाय के रूप में विकसित हो सकेगा। महाराष्ट्र में इस प्रकार के व्यावसायिक लोकनाट्य दल हैं जो अपने कलाकारों को अच्छा वेतन देते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर लोकरंगमंच में सुरक्षा का भाव आयेगा।

लोकनाट्य कला में युवक-युवतियों को प्रशिक्षण देने के लिये प्रान्त में, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की भाँति कोई शिक्षण संस्थान प्रारम्भ किया जाना चाहिये। इस संस्थान में नाट्य लेखन से लेकर सफल मंचन तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वैज्ञानिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था रहनी चाहिये। प्रांत की शिक्षण संस्थाओं में लोकनाट्यों के अभिनय को प्रोत्साहन देने के लिये भी कार्यक्रम बनाया जाय। इसके लिये लोकनाट्य-शैली में छोटे-छोटे नाटक तैयार कराये जाय। यह विचार शायद अव्यावहारिक लगे किन्तु यह आवश्यक है। किशोरावस्था में ही विद्यार्थियों को जब इस मूल्यवान सांस्कृतिक सम्पदा का ज्ञान करा दिया जायेगा तो इस कला को निश्चित रूप से स्थायित्व प्राप्त होगा।

लोकरंगमंच की ओर जन-अभिरुचि को जाग्रत करने के लिये आरम्भ में, सरकार कुछ नाटक मण्डलियों को आर्थिक सहायता देकर, उन्हें गांवों में प्रदर्शन के लिये भेज सकती है। लोकनाट्यों की फिल्में तैयार करवाई जा सकती हैं। सरकार के हाथ में इस माध्यम के दुरुपयोग की संभावनायें भी हैं क्योंकि सरकार फिर अपनी नीति रीति के लिये ही इसका उपयोग करेगी। इस कला का मुक्त और स्वतन्त्र विकास सरकार के दफ्तरों में नहीं हो सकता किन्तु प्रारम्भिक रूप में यही उपाय सम्भव लगता है।

लोकरंगमंच के मर रहे के साथ और भी इनसे समस्याएँ और प्रश्न जुड़े हुए हैं। आधुनिक भाव चेतना से संपृक्त स्वस्थ एवं परिष्कृत नये लोक नाट्य की रचना भी इनमें से एक है। यह काम कौन करे? राजस्थानी लोकरंगमंच जिस रूप में आज जीवित है उसके नवसंस्कार और पुनरुद्धार का प्रश्न भी है क्योंकि इसमें अनेक निम्नस्तरीय विकृतियाँ, कुरूपताएँ और कुसंस्कारों की भरमार है जो जीवन का उपहास उड़ाती है। किन्तु यह सब समस्याएँ फिर क्रमशः अपने आप ही सुलझती जायेंगी। सर्वप्रथम कार्य तो यही है कि हम सरकारी और गैर सरकारी तौर पर ऐसी क्रांति आरम्भ करें जिससे हमारी यह लुप्तमान कला-परम्परा जीवित रह सकें।



आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

भारत ने लोकधर्मिता को लोकनाट्य का नियामक कहा है। यह लोकधर्मिता उसकी विषयवस्तु में भी होती है और उसकी मचन-पद्धति एवं प्रस्तुतिकरण में भी होती है। लोकजीवन उन्मुक्त और असीम है अतः लोकधर्मिता का भी कोई अनुशासन और शास्त्र नहीं है। मूल बात यह है कि लोकनाट्य लोक-हृदय के हर्ष और उल्लास का अनुष्ठान है अतः उसकी अभिव्यक्ति, प्रदर्शन और प्रस्तुति में पूर्ण उन्मुक्तता स्वाभाविक है।

हमारा परम्परागत लोकरंगमंच हमारी अटूट संस्कृति का पुष्ट संभारक है—हमारे लोक का हर्ष-विषाद, सुख-दुख, आशा-निराशा, आस्था विश्वास इसमें निश्छल अभिव्यक्ति पाते हैं। यह लोक की शक्ति और उसका जीवन सबल है अतः इसके उपयोगितापूर्ण संरक्षण और विकास को लेकर तो शायद ही कोई विवाद हो। आदिम संस्कृति का जड़ और बासी अवशेष कह कर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्थापित व्यवस्था और तंत्र के प्रति अपनी अच्छी-बुरी प्रतिक्रियाओं को लोकमंच के माध्यम से ही जनसाधारण अभिव्यक्ति देता है।

पर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोकनाट्यों की रूढ़ मंचन-पद्धतियों एवं प्रस्तुति-करण पर जब हम विचार करते हैं तो अनेक प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। पहला प्रश्न तो यही कि पिछले कुछ दशकों में, विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों एवं द्रुतगामी औद्-योगिक विकास के कारण हमारे चिन्तन, भावबोध और सौन्दर्य दृष्टि में पर्याप्त तब्दीली एवं अन्तर्विरोध आये हैं। तब लोकनाट्य अपनी परम्परागत विषयवस्तु और प्रस्तुतिकरण को लेकर हमारे हृदय और मानस को कहाँ तक छूते हैं और क्या और कितना सार्थक सम्प्रेषित करते हैं? प्रश्न यहाँ तक

उठता है कि क्या इनमे आज स्वयं मनोरंजन की क्षमता भी अवशिष्ठ रही है ? यह बात केवल नगरसमाज के ही संदर्भ मे नही कही जा रही है अपितु हमारे वर्तमान ग्रामीणसमाज के सदर्भ मे भी एक तथ्य है। सचार के नये साधन, औद्योगिक विकास, कृषि क्राति और आधुनिक शिक्षा ने इस समाज को भी पर्याप्त प्रभावित किया है और उसकी जीवन पद्धति, दृष्टियाँ और रुचियाँ बदली हैं, बदल रही हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि इनकी मचन-शैली और प्रस्तुतिकरण मे युगानुकूल परिवर्तन किया जाय तो वह किस दिशा में हो और कितना हो। तीसरा प्रश्न यह भी उठता है कि समूची लोकनाट्यविधा को वर्तमान जीवन-सदर्भ मे प्रभावक उपयोगिता और सार्थकता कैसे दी जाय। इसी प्रकार के कुछ और भी स्थूल-सूक्ष्म प्रश्न उठ सकते हैं।

पहले कि इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढा जाय, लोकनाट्यो की रूढ मचन पद्धतियो एव प्रस्तुतिकरण के स्वरूप पर सक्षेप मे दृष्टिपात कर लेना उचित रहेगा। महाराष्ट्र के तमाशा, गुजरात के भवाई और बगाल के जात्रा को अपवाद रूप मे छोड दें क्योकि इनकी विषयवस्तु, मचन एव प्रस्तुतिकरण के शैलीशिल्प मे पिछले कुछ दशकों मे, आधुनिक जीवन सदर्भों के अनुकूल, एक दृष्टि से युगान्तर आ गया है। शेष सभी प्रादेशिक लोकमच अभी अपनी नाट्यरूढियो एव परम्पराओ से अभिशप्त है। नौटकी, तुर्राकलगी, रम्मत, माच, यक्षगान, कुचिपडी, अकियानाट्य, तीरुकुभू मे किसी प्रकार के वृहद् परिवर्तन का आभास नही मिलता। यों यह आज भी लोकजीवन मे प्रतिष्ठित है अत इनकी सतही परिवर्तनशीलता स्वयंसिद्ध है।

लोकनाट्यो की मचन-पद्धति एव प्रस्तुतिकरण की सामान्य विशेषतायें ये है कि इनका रगशिल्प सहज और सादगी लिये होता है। ये सभी नाटक खुले रगमच पर होते हैं—इनके तीन अथवा चारो ओर दर्शक बैठते है, मच पर पर्दों का प्रयोग नही होता, कोई दृश्य-योजना नही होती, न रगरचना के विशेष उपकरण ही होते हैं। स्त्री-पात्रो की भूमिका पुरुष-पात्र ही प्रस्तुत करते है। स्थान-परिवर्तन अथवा काल-परिवर्तन की सूचना कतिपय कार्य-व्यापारो द्वारा दी जाती है। अनेक दृश्यो एव घटनाओ को प्रतीको के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। मगलाचरण से इनका प्रारम्भ होता है। नृत्य और सगीत लोकनाट्यो के स्थायी अंग है इत्यादि।

राजस्थानी लोकनाट्यों के एक विशेष प्रकार 'रावलो की रम्मत' का उदाहरण लेकर इसे विस्तार से समझा जा सकता है। रावल राजस्थान की एक कलाविद् जाति है जो मागनहार तो नही किन्तु चारणो की याचक है। इस जाति की उत्पति की अनेक कथायें प्रचलित हैं। १३वी-१४वी शताब्दी मे गुजरात मे यह अवतरित हुई। फिर राजस्थान के विविध भागो मे यह फैली। आज बीकानेर, मेवाड, शेखावाटी, किशनगढ, मारवाड के कुछ गावो मे इस जाति के लोग विद्यमान हैं।

रावलो की रामत को शक्तियो का अखाडा कहते हैं। ये मुख्य-रूप से अर्द्ध-नारीश्वर रूप—जोगमाया के स्तुतिपरक नाट्य प्रस्तुत करते है। अपने किसी चारण यजमान के आमन्त्रण पर ही ये प्रदर्शन करते हैं। जब कोई भक्त कहता है कि मैं देवी के पैर मे घुघरू बधवाऊगा तब तो रामत मे नृत्य और रास का समावेश होता है और यदि कोई भक्त कहे कि मैं रात्रिजागरण करवाऊगा तब बैठे-बैठे केवल चिरजा (चरित्र गायन) गाई जाती है—तब नृत्य और रास नही होता। जोगमाया की चिरजायें गाना रावलो की रम्मत का मुख्य अग है। लोकानुरंजन के लिये अन्य स्वाग यथा सेठ-सेठाणी, पठान, वान्हगूजरी, लख्खी बजारा भी प्रस्तुत करते है। यद्यपि इनका उद्देश्य हास्य-विनोद और मनुरजन करना होता है पर इनमे इतने गहरे और व्यापक व्यग-हास्य के नाटकीय तत्व नही होते कि दर्शक लोटपोट हो जाय। रावलो की रम्मत मूलरूप से धार्मिक एव जातीय अनुष्ठान से सम्बद्ध होती है इसलिये इसमें नाट्यकला के हृदयस्पर्शी स्वरूप का अभाव रहता है। इनके नृत्यो मे बेताला उछलकूद और सगीत मे बेसुरी चीखें अधिक होती हैं। स्त्री-कण्ठ की नकल करते हुये पुरुष पात्र अपनी आवाज का और भी विकृत करते हैं। सक्षेप म, रावलो की रम्मत का अभिनयपक्ष बडा उबानेवाला, नीरस और विद्रूप होता है।

गाँव के किसी खुले चोक मे अथवा चारणो की गढी के आगन मे जाजम अथवा निपाल पर बिना किसी आवर्षक रगमज्जा के रामत प्रस्तुत की जाती है। प्रकाश-व्यवस्था उपलब्ध साधनो के अनुसार होती है। पात्रो की वेशभूषा अवश्य चटकीली होती है।

लकडी की मादल, मजीरे और खाज मुख्य वाद्य हैं जो रामत के समय बजाये जाते हैं। ये वादक भी पात्रो के साथ-साथ गाते हैं। सगीत और काव्य

के साथ इन रामतो म गद्यात्मक सवादो का पर्याप्त समावेश होता है। रामतो के गीतछन्द चारणी-काव्य की परम्परा लिये होते हैं—इसका कारण शायद अपने यजमान, राजस्थानी साहित्य के सृष्टा और मर्मज्ञ चारणो का निकट सानिध्य है। इन रामता की नाटकीय सरचना पर जब दृष्टिपात करते हैं तो लगता है कि इनमे वाचन-तत्व का प्रधानता दी गई है और अभिनयतत्व गौण रखा गया है।

स्वागो और झाकियो के बीच-बीच मे विषयान्तर करते हुये अपने यजमान चारणो का काव्यमय प्रशस्तिगान भी ये लोग करते रहते हैं। इन रामतो मे दर्शकवर्ग की ओर से किसी भी प्रकार की टीका टिप्पणी, प्रतिक्रिया, वाहवाह वर्जित है क्योकि इनका सम्बन्ध धार्मिक अनुष्ठान के पवित्र अवसर से होता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि रावलो को रामता पर वर्तमान युग का किंचित भी प्रभाव नही पडा है। ये आज भी पूर्णत रूढ, परम्परागत एव आधुनिक समाज के आवनमदर्भो से पूर्णत असम्पृक्त हैं।

'रावलो की रामत' का उदाहरण देकर मैंने लोकनाट्यो की मचन-पद्धति एव प्रस्तुतिकरण के वस्तुगतरूप को दर्शाया है। कमाबेश यही स्थिति अन्य लोकनाट्यो के रगशिल्प की है। तो फिर हम पुन उन प्रश्नो की ओर उन्मुख हो, जो निबन्ध के प्रारम्भ मे मैंने उठाये थे। ये मचन-पद्धतियाँ और प्रस्तुतिकरण आज कहाँ तक प्रभावशाली और नाटकीय दृष्टि से उपयोगी हैं ? क्या इनकी इसी रूप मे रक्षा की जाय ? आभिजात्य रगमच का प्रयोगधर्मा आधुनिक रगशैलियो का उपयोग कर क्या लोकरगमच को अधिक प्रखर, जीवन्त और प्रभावशील नही बनाया जा सकता ?

मैं व्यक्तिगतरूप से यह सोचता हूँ कि लोकनाट्यो की रूढ मचन-पद्धति और प्रस्तुतिकरण के अपने कुछ गुण, आकर्षण और उपयोगितायें हैं। दर्शक और अभिनेता क मध्य जिस प्रकार की आत्मीयता, अनौपचारिकता, सहज सवादात्मकता नाटक को रसग्राह्य और आस्वादयोग्य बनाने के लिये अनिवार्य होती है, वह इन मचन-पद्धतियो और प्रस्तुतिकरण की कला मे विद्यमान है। लोकनाट्य की सम्पूर्ण भूमि रगस्थल और प्रेक्षागृह बन जाती है। अत लोकनाट्य के रगशिल्प को सहजता, अनौपचारिकता और खुलेपन की पूर्ण सुरक्षा होनी चाहिये। पर परम्परा की रक्षा के प्रति मोह मे हम उपलब्ध वैज्ञानिक

ग्यो का प्रयोग न करें, यह उचित नही। रगदीपन, ध्वनि, दृश्या-
ो रूपसज्जा विषयक प्राधुनिक उपकरणो एव विधियो का प्रयोग
ामंच को अधिक सवेद्य एव प्रभावी बनाया जा सकता है।
स्त्री-पात्रो को भूमिका स्त्रियाँ ही प्रस्तुत करें—इस अस्वाभा-
भोडेपन से लोकरगमच को तत्काल मुक्त किया जाना चाहिये।

ोकनाट्य के संरचना-शिल्प मे भी रूपगत परिवर्तन अब आवश्यक
गा है। सगीत और नृत्य की अतिरेक्ता पर विचार किया जाना
-सवादो का प्रसगगत आनुपातिक समावेश नाटकीय स्वाभाविकता
को बढ़ाने में सहायक होगा।

ग मे, मैं एक बात स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा कि यह परिवर्तन
ाथ किये जायं। लोकात्मा और लोकरग से यह च्युत न हो जाय।
र, यह परिवर्तन लोकरग कर्मी स्वयं करें। किसी बाह्य तत्र
पर थोपे न जाय।

कहावती-कथाओं के संदर्भ में

'कहावत' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ को लेकर विद्वानों ने पृथक-पृथक मत प्रकट किये है। हम यहाँ सीधा-सा अर्थ ही ले रहे हैं। कहावत का अर्थ है—'कही हुई बात'। किन्तु प्रत्येक कही हुई बात कहावत नहीं बन जाती। जीवन के किसी ऐसे अनुभव का जो किसी एक व्यक्ति का ही नही है अपितु समाज के अधिकांश व्यक्ति जिसे प्राय अनुभव करते हैं, जब चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है, तो पूरा लोकमानस उसे सहसा स्वीकार कर लेता है। कालान्तर मे वही चमत्कारपूर्ण वाक्यांश अथवा पद्यांश लोकजीवन में 'कहावत' के रूप मे प्रचलित हो जाता है। कहावत का जन्म एकान्त में नहीं होता। लोक जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओं की अनुभूति से ही कहावत का जन्म होता है। कहावत का निर्माण कौन करता है ? यह भी एक प्रश्न है। इसका उत्तर भी सहज ही है। समाज के किसी एक व्यक्ति के मानस में सर्व प्रथम लोकानुभूति कहावत के रूप में जन्म लेती है। कहावत का जीवन-द्रष्टा जन्मदाता तो अपने इस अनुभव वाक्य को समाज के प्रबल म डालकर खो जाता है किन्तु उसकी यह रचना लोकजीवन मे अमर हो जाती है। कहावत के शिशु ने कब जन्म लिया, यह कोई नहीं बता सकता क्योंकि उस समय जन्मदाता के पास कोई नही होता।

लोकानुभव की चमत्कारपूर्ण अभ्यस्त अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के फल-स्वरूप लोकजीवन के सागर में कहावतो के असख्य रत्न पड़े हैं। वेदों से लेकर आज तक कहावतो की परम्परा अक्षुण्ण रूप में जीवित है। कहावत लोकसाहित्य की एक ऐसी विशिष्ट विधा है जिसमे लोकमानस को चमत्कारी प्रतिभा का रूपांकन होता है। जीवन के गहरे, सूक्ष्म और व्यापक अनुभव को संक्षिप्त वाक्य-रचना और कतिपय अर्थपूर्ण शब्दों के माध्यम से कभी गद्य में और कभी पद्य मे प्रकट करना वास्तव मे एक प्रशंसनीय कला है।

विपय और रचनाशिल्प की दृष्टि से जब कहावतों पर विचार करते हैं तब इनके वर्ग और रूपवैविध्य को देखकर भी विस्मय होता है। कहावतों में सम्पूर्ण लोकजीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। धर्म, दर्शन, नीति, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, सामाजिक रीति-रिवाज, कृषि, राजनीति—संक्षेप में लोक-जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं बचता जो कहावतों की परिधि में नहीं समेट लिया गया हो। इसी प्रकार रचना शिल्प की दृष्टि से भी इन कहावतों में साहित्य-कला की ऊँची भूमियाँ परिलक्षित होती हैं। कुछ कहावतें सीधे सादे वाक्यों में मिलती हैं। किन्तु आलंकारिकता, वक्रता, उनका लक्ष्यार्थ और व्यंग बड़ा प्रभावकारी होता है। कुछ कहावतें लय और तुकबद्ध होती हैं, कुछ कवितांश के रूप में दो अथवा चार चरणों में समाप्त होती हैं। वार्तालाप-शैली में रचित कहावतों की कमी नहीं है। अपने कथन की पुष्टि में राजस्थानी लोक कहावतों के विशाल भण्डार से मैं कुछ कहावतें दे रहा हूँ। ये कहावतें विषय वस्तु के वैविध्य रचना शिल्प की कुशलता और इनमें निहित साहित्यिक सौन्दर्य को मुखर करती हैं।

१— झूठ को बोलणियो र धरती पर सोवणियो सांकड़ेलो
कयूं भुगते ?

२— कम खावणो, र गम खावणो फायदो ही करै

३— माई भूरा, लेखा पूरा

४— आख फड़ूके बांई, कै बीर मिले के सांई

५— खेती करै न बिणजी जाय।
विद्या के बल बैठ्यो खाय॥

६— अवल सरीरा ऊपजै, दियौ न आवै सीख।
अण माग्या मोती मिले, मांगी मिलै न भीख॥

७— काग, कुहाड़ी, कुटिल नर, काटै ही काटै।
सुई, सहागो सापुरस, साठै ही साठै॥

८— बैठी चाले डोकरी, कंकर काढ़ै खोज।
काई थारो खो गयो, पूछै राजा भोज॥
म्हारै सें थारै गई, अंबा काढू खोज।
थारै से बी जायगी, मत गर बैरे भोज॥

६– कळह करे मत कामणी, घोडा घो देता।
घाडा कदेक श्रावसी, वाडेलो बहताह ॥
श्राक बंटूके पवन भख, तुरियो श्रागल ज
मैं तनें पूछूं सायवा, हिरण किसा घी ख

राजस्थानी कहावतो में विषयगत और रूपगत कुछ उपरो
पश्चात मैं कहावत की प्रमुख प्रवृत्ति की ओर आता हूँ–
अन्तर्निहित कोई घटना अथवा कथा। इस प्रमुख प्रवृत्ति के
ने कहावत की व्युत्पत्ति 'कथावत' से दी है। कथावत प्र
सदस्य है। राजस्थानी कहावतो मे यह प्रवृत्ति व्यापक रूप से
जीवन मे प्रतिदिन घटने वाली साक्षात् घटनाओं को कहावत
लिया जाता है। इस प्रकार की कुछ कहावती-कहानिया
कीजिये—

एक कहावत है— हाथ कमाया कामडा, किण नें दीजे दोष
कोजाजी री पालडी, कर्दं लीन्ही खोस ॥

इस कहावत की कहानी इस प्रकार है — कोजाजी नाम के
थे। मारवाड मे पालडी नाम का एक गाँव है— यही थे
यहाँ एक बावडी खुदवाई। कुछ समय बाद इस सन्त के
तीर्थ बन गया। दूर-दूर से लोग यहाँ आते और इस बा
अपने पापा से मुक्त होते। भक्त कोजाजी के मना करने पर
ने एक बार इस बावडी पर कादे (प्याज) बोये। फसल बहु
एक कादा सवा मन का हुआ। चेलो ने कोजाजी को कहा य
नरेश को दिखाना चाहिये। कोजाजी ने फिर मना किया
मानने वाले थे? कादा जोधपुर नरेश की सेवा म प्रस्तुत कि
के मन्त्रियो ने राजाजी के कान भरे और कहा कि यह बाव
बहुत उपजाऊ है इस पर तो राजाजी का ही अधिकार
साधु के किस काम का? नतीजा यह हुआ कि कोजाजी भव
हाथ धोना पडा।

अर्थ यह है कि जिस हानि के लिये स्वयं हम दोषी हैं, उसके
का दोष देना व्यर्थ है।

एक दूसरी कहावत देखिये—

खायाँ सोई खरचिया, दीन्या सोई सत्य ।
जसवंत घर पोढ़ालिया, माल विराणें हत्थ ॥

इस कहावत में अन्तर्निहित कथा इस प्रकार है—जोधपुर नरेश जसवन्तसिंहजी खाने-पीने और सुन्दर वस्त्राभूषण पहनने के बहुत ही शौकिन थे। उन्होंने अपने दीवान और अन्य मंत्रियों को एक बार आदेश दिया कि जब मैं मरूं तो मेरे शरीर पर से वस्त्राभूषण दूर मत करना—इन्हें मेरे शरीर के साथ ही जला देना। वे योगसमाधि भी लगाते थे। एक बार उन्होंने अपने मंत्रियों की परीक्षा लेनी चाही। वे समाधि लगा कर लेट गये। मंत्रियों ने देखा कि महाराज तो स्वर्गवासी हो गये। लालची मंत्रियों ने उनके शरीर से बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार लिये और उनकी जगह साधारण वस्त्राभूषण पहना दिये। महाराज ने अपनी समाधि भंग की तब संसार की स्वार्थपरायणता पर उन्होंने यह छन्द कहा जो कहावत के रूप में आज भी प्रचलित है। इससे ध्वनि यह निकलती है कि हम जो कुछ खाते, पहनते और दान में देते हैं, बस वही हमारे साथ जाता है। अन्यथा यह दुनिया बड़ी बेईमान है। मृत्यु होने पर लोभी संसार तत्काल हमारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता है।

एक कहावत और देखिये —

बरजी छी जब मानी न, मन में आण्यू रोस ।
कोस्या पाछे हूंमड़ी, भागी बारह कोस ॥

एक गाँव में डूम जाति की एक बुढ़िया रहती थी। एक दिन वह किसी दूसरे गाँव जा रही थी। रास्ते में भयकर जगल पड़ता था—उसमें डाकू रहते थे। इन डाकुओं का ऐसा नियम था कि ये राहगीरों को पीटते थे और उनका सारा माल-असबाब छीन लेते थे। इस बुढ़िया को लोगों ने बहुत समझाया किन्तु उसने किसी की नहीं सुनी। नतीजा वही हुआ। डाकुओं ने उसका सारा माल असबाब छीन लिया। इस प्रकार लुट कर १२ कोस से बुढ़िया वापिस अपने गाँव लौट कर आई।

इस कहावत से ध्वनि यह निकलती है कि समयानुकूल कार्य करना चाहिये, समय निकलने पर पश्चात्ताप व्यर्थ है।

एक और कहावत देखिये —

> पांस फूट ता आख फूटी, गियो टींटको काणी मे ।
> दोनो आख सपासप होगी, जा भेंस पाली मे ॥

एक काना कुम्हार था। उसके पास एक भैंस थी जो बहुत दूध देती थी। चोरों की उस पर आंख गड गई। अब वे सदैव उसको चुराने की घात मे रहते। कुम्हार इस भैंस को बहुत ही प्यार करता था। खुद ही चराने ले जाता-उसकी पूरी देख-रेख करता। एक दिन खेत के किनारे की तलाई में भैंस को छोड वह ज्वार के भुट्टे सेक कर खाने बैठ गया। दुर्भाग्य से ज्वार के भुट्टे का एक दाना उसकी दूसरी आख मे जो ठीक थी जा लगा। काना पहले से था, अब बिलकुल अन्धा हो गया। उधर चोरों को मौका मिल गया। वे भैंस चुरा कर ले गये। उसने भी सोचा, जब आंखें ही नही रही तो अब भैंस के रहने से क्या होगा ? अच्छा हुआ भैंस भी चली गई। इस कहावत से ध्वनि यह निकलती है कि जीवन का एक मात्र आधार ही जब चला जाय तो फिर अन्य गौण विषयो के रहने से क्या लाभ ?

एक अन्य कहावत है —

> खाता खाण न पीता पाण।

इस कहावत से सम्बन्धित पूरा पद्य इस प्रकार है —

> एक सोड अर जणा पचास, सारा करे ओढण की आस।
> साझ पडे ई खींचा ताणी, खाता खाण न पीता पाणी ॥

एक मठ था। उसमे बहुत से साधु रहते थे। सर्दी का मौसम था किन्तु पास ओढने के लिये सोड (रजाई) एक ही थी। वे दिन मे तो किसी तरह गुजर कर लेते थे किन्तु रात मे बडी मुश्किल रहती। उस एक रजाई को सब ओढते और उसे अपनी ओर खीचते। इस प्रकार सारी रात खीचातानी चलती रहती। चैन से नीद लेने का तो प्रश्न ही नही था। इस कहावत का अर्थ यही है कि स्वार्थ एक क्षण को भी चैन नही लेने देता।

एक कहावत और देखिये—'खुदा करे सो होय, लेणा एक न देणा दोय' एक कछुआ और एक कौआ आपस में गहरे मित्र थे। एक दिन एक चिडीमार ने

कौवे को अपने जाल में फसा लिया। कछुवे ने चिडीमार से कहा-'कौवे को छोड दो। मैं तुम्हें एक मोती दूगा।' चिडीमार कुछ लालची था। उसने कहा, 'ऐसा ही एक मोती और दो तो मैं इसे छोड सकता हूँ'। कछुवे ने उत्तर दिया कि पहले कौवे को छोड दो फिर मैं तुम्हे ऐसा ही एक मोती और दे दूगा। चिडीमार ने कौवे को छोड दिया। कछुवे ने भी एक मोती और ला कर दे दिया। किन्तु चिडीमार ने यह कह कर उसे लेने से इन्कार कर दिया कि यह मोती पहले जैसा नही हैं। कछुवे ने कहा—ठीक है। लाओ 'मुझे पहले वाला मोती दे दो। इसी के नाप और आकार का मोती ढू ढ कर तुम्हे देता हूँ।' यह कह कर कछुआ पानी मे अदृश्य हो गया। लालची चिडीमार काफी देर तक प्रतीक्षा करता रहा। कछुआ अब क्यों आने लगा? चिडीमार को अपने अति लालच के कारण पहले मोती से भी हाथ धाना पडा। इस कहावत का व्यन्यार्थ यह है कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा के अनुसार होता है।

इस प्रकार राजस्थानी कहावतें अपनी मनोरजकता के साथ लोकजीवन की विविध अनुभूतियो को अत्यन्त कलात्मकता के साथ सम्प्रेषित करती है। वे वास्तविक अर्थ मे लोकजीवन की अमूल्य सम्पत्ति है।



एक और लोकविधा

लोककहावतो की भाँति राजस्थानी लोकसाहित्य की एक और प्रमुख विधा है जिसे लोकवातालार्थ कहते हैं। यह विधा पद्यात्मक होती है—दोहा अथवा सोरठा छन्द का ही मुख्यरूप से इसमें प्रयोग होता है। इसमे कोई न कोई प्रसग अन्तर्निहित होता है और जब तक उस प्रसग का अभिज्ञान नही होता तब तक उक्त वातालार्थ का अर्थ स्पष्ट नही होता। राजस्थानी साहित्य के विद्वान स्व० (डा) सहल ने वातालार्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—'घटनाओ के साथ जुड़ी हुई इन कहावतो को जिनका अर्थ उन घटनाओं को जाने बिना नही खुलता, वातालार्थ कहते हैं। ये मनोरजक और शिक्षाप्रद तो होते ही हैं, उनसे अनेक ऐतिहासिक बातो का बोध भी होता है। वातालार्थ के लिये प्रवाद, उपाख्यान और गाथा शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।'

इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई घटना-सूत्र वातालार्थ का प्रमुख अवयव होता है। सामान्य दोहा और सोरठा मे तथा वातालार्थ मे यही एक भेदक तत्व है। इन वातालार्थों का रचना-शिल्प भी एक-सा नही होता। कुछ वातालार्थ वार्तालाप के रूप मे मिलते हैं, कुछ नितान्त इतिवृत्तात्मक हैं, कुछ मे किसी विशेष रस की निष्पत्ति होती है, तो कुछ मे उक्ति-वैचित्र्य की ही प्रधानता मिलती है।

वातालार्थ के रचयिता कौन थे ? यह प्रश्न इसी प्रकार का है कि लोकगीतो के अथवा लोककथाओ के रचयिता कौन थे। इसका कोई प्रामाणिक उत्तर नही दिया जा सकता। कुछ वातालार्थो के प्रसग अथवा उनमे प्रयुक्त कवि के नामो से रचयिता के सम्बन्ध मे जानकारी मिल जाती है किन्तु समस्त वातालार्थो मे ऐसा नही है। अत लोकोक्ति या कहावत की व्युत्पत्ति के सबध मे लार्ड रसल ने कहा है कि लोकोक्ति एक व्यक्ति की विदग्धता और अनेक का ज्ञान है। रसल की यह उक्ति वातालार्थ पर भी चरितार्थ होती है।

कवि-हृदय ग्रथवा वाक्दक्ष व्यक्तियो ने इनका निर्माण किया होगा । क्योकि उनमे जीवन के शाश्वत सत्य का उद्रेक है, अत वे लोकमानस व कण्ठ पर प्रतिष्ठापित हो गये ।

राजस्थान म वातालार्य बहुत बडी सख्या म उपलब्ध हैं । राजस्थान के बहुत से ग्रनपढ लोग भी इन वातालार्यों को उपयुक्त ग्रवसरा पर ग्रावृत्ति करते हुये देखे गये हैं । प्रकृति, काव्य, इतिहास, नीति ग्रौर धर्म का ग्रद्वितीय सगम इनमे देखा जा सकता है । उदाहरणार्थ नीचे कुछ ऐसे ही राजस्थानी वातालार्य दिये जा रहे हैं जो राजस्थानी लोक-साहित्य की इस ग्रनोखी विधा का दिग्दर्शन कराते है—

टू के टू के बेलको, भरणे भरणे जाय ।
ग्रर्बुद की छवि देखतां, ग्रौर न ग्रावे दाय ॥
ग्रमल मिठाई ग्रसतरी, सोमो म्हणो साह ।
पांच थोक पृथ्वी सिरे, वाह, बीकाणा वाह ॥
जोध बसायो जोधपुर, ब्रज कीनो ब्रिजपाल ।
लखनेऊ कासी दिली, मान कियो नेपाल ॥
ग्राक बहूसे पवन भख, तुरियां ग्रागल जाय ।
[illegible] तने पूछू सायबा, हिरण किसो घी खाय ॥
पालो चालो प्रेम सू, बाजता ढोलां ।
ग्राटो लायो ईलिया, घर लायो गोलां ॥
कट्टारी ग्रमरेस री, बखते री तरवार ।
धरमी राजा मानसी, नाय रिझावणहार ॥
पग पग नेजा पाडिया, पग पग पाडी ढाल ।
बीबी पूछे खान ने, जग केता जगमाल ॥
लाख लखारा नीपजे, वड पीपळ री साख ।
नटियो मू तो नैणसी, ताबो देण तलाक ॥
मेडी चाळे डोकरी, कंका काडे खोज ।
कांई थारो खो गयो, पूछे राजा भोज ॥
म्हारे सै थारे गई, जंका काडू खोज ।
थारे सं बी जायगी, मत गरबावे भोज ॥
चू डा नावे चीत, काचर कालाऊ तणा ।

भूप भयो भंभीत, मंडोवर रै मालियँ ॥
लाखे सिरखा लख गया, अनड़ सरीखा आठ ।
हेम हेडाऊ सारखो, वलै न आयो वाट ॥
लालां करधा बिछावणा, हीरां बांधी पाज ।
कांटै मोती पो गयो, हेम गरीब निवाज ॥

उपरोक्त वातालार्यों की भाषा और अभिव्यक्ति कही भी ऐसी नहीं कि समझ मे न आती हो। इनका अभिधार्थ साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी कर सकता है किन्तु इनमे जो भौगोलिक व ऐतिहासिक प्रसंग निहित हैं, जब तक उनका ज्ञान श्रोता अथवा पाठक को नहीं होता, तब तक वह इनका निहितार्थ स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकता। यही वातालार्यों की मूल विशेषता है। इनके रचयिता को तो पुराण इतिहास, भूगोल, राजनीति का विस्तृत ज्ञान होता ही है, श्रोता अथवा पाठक से भी यह अपेक्षित है। इनमे इतिहास-पुरुषों के नाम आते हैं, उनके राजनैतिक और व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का सकेतात्मक उल्लेख होता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि पाठक उस सम्पूर्ण सदर्भ से परिचित हो। ये वातालार्यें अत्यन्त सक्षेप मे अतीतकालीन इतिहास के अज्ञात पृष्ठ हमारे समक्ष उद्घाटित करते हैं। लोक अपने काल के इतिहास के प्रति कितना जागरूक रहता है, समसामयिक लोकजीवन की घटनाओं से वह कितना सम्पृक्त रहता है, उसकी दृष्टि और चेतना कितनी सूक्ष्म और तथ्यग्राही होती है, यह सब इन लोकवातालार्यों से प्रकट होता है। लोकावातालार्यों की भाषा, इनका अभिव्यक्ति-सौन्दर्य इनका व्यग और वाग्वैदग्ध सभी कुछ प्रशसनीय है।

राजस्थानी वातालार्यों के सम्बन्ध मे, सक्षेप मे यह कहना अधिक समीचिन होगा कि ये राजस्थान के इतिहास की संक्षिप्त, लघु साहित्यिक गाथायें हैं।



स्वरूप और व्याख्या

'लोक' शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग में अनेक जन-प्रचलित शब्दों को उनके सामान्य अर्थों के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और सदर्भ दिये गये हैं। लोक का, व्यापक मानवसमाज से अर्थ न लेकर लोकवार्ता-विज्ञान आज मानव समाज के उस वर्ग से अर्थ लगाता है जो आभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाडित्य की चेतना और पाडित्य के अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे 'लोक' शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग से लिया गया है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओ से मुख्यत परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य है अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षर ज्ञान है—ग्रामीण और गवार।'

'लोक' शब्द का उपयुक्त अर्थ और परिभाषायें यह स्पष्ट करते हैं कि लोकमानस और हृदय सहज और सारल्य संवृत होता है, उसमे दिखावा नही होता, मानव-स्वभाव की वक्रतायें और कुटिलतायें नही होती। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद जेम्स फ्रेजर ने इस लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह विवेकपूर्वी (Prelogical) और मिस्टिक होता है। फ्रेजर की इन मूलस्थापनाओ को लोकमानस और लोकवार्ताविदो की पूर्ण सहमति यद्यपि नही मिल पाई, किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य है जिन्हें वे सभी स्वीकार करते है। ये तत्त्व सक्षेप मे इस प्रकार हैं—(१) लोक-मानस यथार्थ और कल्पना मे भेद नही करता (फैंटेसी थिंकिग), (२) वह प्राणी, अप्राणी-जड-चेतन को आत्मा से युक्त मानता है (ऐनिमिस्टिक थिंकिग), (३) उसका यह विश्वास रहता है कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है (मैजिकल थिंकिग), (४) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिचुअल थिंकिग)। इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप लोकजीवन मे हमे ऐसे अनेक विश्वास, मान्यतायें, आचरण, अभिचार और

अनुष्ठान देखने को मिलते है जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धि-प्रधान वैज्ञानिक युग मे समझ मे नही आते। इन्ही के फलस्वरूप वह देवी-देवताओ, प्रकृति और पराप्राकृतिक शक्तियो, भूतो और प्रेतो मे विश्वास करता है। वह वृक्ष, पहाड, नदी, नाले आदि को आत्मतत्व से युक्त मानता है—उसका विचार है कि चेतन मानवो की भाति यह सब काम करते हैं। मन्त्र, टोने और अनुष्ठानो की लोकजीवन मे इसीलिये भरमार रहती है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि से वह अपने अभीष्ट और अभिप्रेत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा होता है। एक जाति और राष्ट्र की गरिमा उसके लोक के जीवन में निहित होती है। उसकी संस्कृति, कला, धर्म और दर्शन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन नगरो मे रहने वाले अति-आधुनिक और सभ्य समाज के जीवन मे नही हो सकते। ग्राम्याचलो के प्राकृतिक परिवेश मे निवास करने वाले अनन्त लोक के जीवन मे ही हमे वे दर्शन सुलभ हो सकेंगे।

इस निबन्ध मे मैंने भारतीय लोक को ही आधार बनाया है। जब हम भारतीय लोक के दर्शन और धर्म पर दृष्टिपात करते हैं तो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता जो हमे दिखाई देती है वह है, उसकी आध्यात्मिकता। यह आध्यात्मिकता भारतीय लोकजीवन का अविनश्वर स्वरूप है। वैदिक पूर्व-काल से लेकर आज तक लोकजीवन मे आध्यात्मिकता की यह धारा अविरल गति से प्रवहमान मिलती है। आधुनिकता के प्रभाव से यह धारा यद्यपि क्षीण अवश्य हो रही है। लोक-हृदय समस्त जड-चेतन मे आत्मतत्व के दर्शन करता है और उससे अपनी अभेदता मानता है। भारतीय संस्कृति का सिद्धान्तसूत्र—सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि चात्मनि' लोकदर्शन मे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन मे अलौकिक स्नेह और सौहार्द्र दिखाई देता है। इस आत्मा और परमात्मा के समन्वय-दर्शन से हमारा जन-जीवन अत्यन्त समृद्ध हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, राधा, सीता, पार्वती, लक्ष्मी, लोकदेवता, लोकदेवियाँ ये सब लोकजीवन और परिवार के अग के रूप मे ही लोकवार्ता और साहित्य मे चित्रित हुये है।

जिस प्रकार दुख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-वियोग, जन्म-मृत्यु आदि से साधारण मनुष्य अभिभूत होता है, उसी प्रकार उसके आराध्य ये देवी-देवता भी होते हैं। यह उसके अभेद-दर्शन का द्योतक है। शिव और पार्वती, कृष्ण और राधा, राम और सीता से सम्बधित शत-शत भारतीय लोककथाओ और गीतो को इस कथन के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल देवी-देवताओ मे ही नही पशु, पक्षी, वनस्पति और अन्य प्राकृतिक उपकरणो में भी लोक की यही आत्मतत्त्वमयी अभेद-दृष्टि दिखाई देती है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, व्यष्टि और समष्टि लोकदर्शन मे एक-रस हो गये हैं।

लोक-दर्शन और धर्म की दूसरी प्रमुख विशेषता श्रम-साधना और कर्मनिष्ठा मे दिखाई देती है। लोक का प्रत्येक सदस्य कुछ न कुछ कर्म अथवा श्रम करता है। वह पराश्रित नही रहना चाहता है। अपने श्रम से ही वह जीविकोपार्जन करता है। आदिम लोकजातियो के दैनन्दिन जीवन, उनकी बस्तियो, गृहनिर्माण आदि पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि श्रम की भागीरथी मे वे निरन्तर स्नान करते हैं। एक क्षण भी वे निष्क्रिय नही रहते। जीवन मे इस श्रम-साधना की प्रतिष्ठा महाभारत के शान्तिपर्व मे व्यासजी ने कराई है—

अहो सिद्धार्थता तेषां, येषा सन्तीह पाणय ।
अतीव स्पृहयेतेषां येषां सन्तीह पाणय ॥
पाणिमद्र्‌य स्पृहास्माकं यथा तवधनस्वं ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥

भारतीय लोकगीतो मे कर्म और श्रम की इस महत्ता को देखा जा सकता है। आखेट, कृषि, पशु-पालन, कुटीर-औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित ऐसे सहस्रों गीत हैं जो लोकजीवन की कर्मनिष्ठा का परिचय देते हैं।

लोकदर्शन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी समाजवादी दृष्टि। लोककला, साहित्य और संगीत के माध्यम से जो लोक-चिन्तन हमारे सामने आता है उसमे व्यक्ति की सत्ता को कही स्वीकृति नही मिली, न वह स्रष्टा है और न संरक्षक। लोक के चिन्तन मे समाज ही सर्वोपरि शक्ति है। वह ईश्वर से जो कुछ मागता है, व्यक्ति के लिये नही मागता, समूचे समाज के लिये मागता है। लोकसाहित्य मे अभिव्यक्त सुख-दुख, हास रुदन तथा शोक आह्लाद व्यक्ति का नही—वह समूचे लोक-मानस का है। संक्षेप मे लोक का

व्यक्ति अपने लिये नहीं जीता, अपने अस्तित्व को समाज में विलय कर समग्र लोक के लिये जीवित रहता है।

लोकधर्म और दर्शन मे व्यक्ति के नैतिकता से पूर्ण पवित्र आधार पर बल दिया गया है। आभिजात्य संस्कृति में जो महत्व शास्त्रीय कर्मकाण्ड को दिया गया है, वही नही उससे कुछ अधिक लोकजीवन मे लोकाचार को दिया गया है। मानवधर्म ही लोकधर्म का आधार है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा मानव धर्म के पालन से ही होती है। यह मानव-धर्म ही लोक का आश्रय है। इसीलिये महाभारत मे कहा गया है —

धर्मः सतां हितः प्रोक्तः धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात निर्मिताः सचराचराः॥

"धर्म ही सत्पुरुषो का हित है, धर्म ही सत्पुरुषो का आश्रय है और चराचर तीनो लोकधर्म से ही निर्मित है।"

धृति, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध मनु महाराज द्वारा बताये गये मानव धर्म के ये दस लक्षण लोक-धर्म के प्राण हैं। किन्तु धर्म का यह उपदेश मनु महाराज ने वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित आभिजात्य समाज के लिये किया था। लोकजीवन मे हमे जो धर्म दिखाई देता है वह इस प्रकार का शास्त्रोक्त नही है। वह लोक-हृदय से प्रसूत सरल और स्वाभाविक धर्म है। सत्य भाषण, निष्कपट व्यवहार, निष्ठा, ईमानदारी, दया, क्षमा, अक्रोध, निर्लोभ, निडरता, ईश्वरभक्ति, नामस्मरण, व्रत, उपवास, प्राणिमात्र की सेवा आदि इस लोकधर्म के तत्व हैं। लोकगीतो, हरजसो, लोकवाणियो, धर्मगाथाओ और लोक-कथाओ में हमे लोकधर्म का यही रूप मिलता है। लोकोत्सवों और धार्मिक पर्वों मे भी इसी लोकधर्म के दर्शन होते हैं। ये उत्सव और पर्व लोक की किसी न किसी धार्मिक आस्था को प्रकट करते है। इन उत्सवो और पर्वो के पीछे लोकानुरंजन का भाव भी निहित है किन्तु इनके आयोजन के पीछे लोक की धार्मिक भावना ही मुख्य रूप से क्रियाशील रहती है। दीपावली, होली, गणगौर, रक्षाबन्धन, दशहरा के समान ही अन्य अनेक पर्व और लोकोत्सव हैं जिन्हे लोक अत्यन्त उत्साह के साथ मनाता है और ऐसे प्रत्येक पर्व अथवा उत्सव के पीछे धार्मिक परम्परा ही

कार्य करती है। समाज और परिवार की सुख-समृद्धि की कामना ही इन उत्सवों का लक्ष्य रहती है।

लोक के अन्धविश्वासों का उल्लेख भी यहाँ अनिवार्य होगा। मानव सभ्यता के आदिम युगों से ही मानव समाज में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित रहे हैं जिन्हें तर्क और बुद्धि की तुला पर नहीं तोला जा सकता। लोक-जीवन में हमें जो अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह मिलते हैं, श्रीमती सोफ़िया बर्न के अनुसार वे इस प्रकार हैं,—

१ प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् से सम्बद्ध।
२ मानव-स्वभाव तथा मनुष्यकृत पदार्थों से सम्बद्ध।
३ भूत-प्रेतों की दुनिया से सम्बद्ध।
४ जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज और भाग्य से सम्बद्ध।
५ शकुन-अपशकुन से सम्बद्ध।
६ रोग तथा मृत्यु से सम्बद्ध।

भारतीक लोकजीवन में इस प्रकार के अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह वैदिक काल से ही उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के अनेक मन्त्र भूत, प्रेत, पिशाच असुर, राक्षस और अन्य अलौकिक शक्तियों में लोक-विश्वास को प्रकट करते हैं। उस काल में जादू टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अलौकिक क्रिया-व्यापारों को लौकिक मान्यता प्राप्त थी।

भारतीय लोक-साहित्य में इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, सरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों से पीड़ित हैं और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नहीं कर सकता। सूने भवनों और स्थानों में भूतों के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षों पर राक्षसों का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त और शकुन अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता और देवी अथवा भूत प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हें प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोक-जीवन से अभिन्न-रूप में सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियों में इसी प्रकार के अन्धविश्वासों से जुड़ा हुआ है। आज

भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियों में नरबलि की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस संक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज में जो दर्शन और धर्म हमें आज उपलब्ध होता है, उसकी जड़ें लोकदर्शन और धर्म में हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही सम्भव हो सकते हैं। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग में हमें विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये ये अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान संदर्भ में लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है।



राजस्थानी लोकसाहित्य में

रामकथा का स्वरूप

राम भारतीय मानस और आत्मा मे चिरन्तन काल से प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक युग मे इनका महात्म्य-गायन और अर्चन-वदन हुआ है। आज भी इस अति वैज्ञानिक, आत्मचेतना-मूलक मूल्यो के ह्रास-युग मे इनका स्मरण-कीर्तन इस देश में होता है—ये हमारी धार्मिक और सास्कृतिक चेतना के अभिन्न अग है जिन्हे काल शायद ही कभी नि शेप कर सकेगा। मुनियो, सम्प्रदायाचार्यों और दार्शनिको ने इनके नाम-रूपो की नानाविधि व्याख्या-विवेचना की है; सन्तो और भक्तो ने आनन्द-भाव से इनके साकार-निराकार विराट स्वरूप मे अपने आपको विलय किया है; कवियो ने इनकी लौकिक-अलौकिक लीलाओ का रसमय वर्णन कर अमर काव्यकृतियो की रचना की है जो मानवजाति की अमूल्य सास्कृतिक सम्पति है और साधारण जन ने इनके लोककल्याणकारी विराट व्यक्तित्व से प्रत्येक क्षण अपने सघर्षमय जीवन मे प्राणदायी उद्बोधन पाया है। रामकथा के उद्भव और विकास के ऐतिहासिक वृत मे जाना यहाँ मेरा अभिष्ट नही है। राम अनन्त हैं और राम की कथा अनन्त है। इस प्रसिद्ध चौपाई से यह स्पष्ट हो जाता है—

> हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता, कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता
> रामचन्द्र के चरित सुहाये, कलथ कोटि संगि जांहि न गाये

यही स्वीकारोक्ति 'आनन्द रामायण' मे है—

> पुनः पुनः कल्पभेदान्जात. श्री राघवस्यच।
> अवतारः कोटिशो अनतेषुभेद' क्वचित क्वचिता॥

वैदिक साहित्य से लेकर वर्तमान भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ, विभाषाओ और बोलियो के साहित्य मे रामकथा की अजस्त्र पावन सलीला हमे उपलब्ध होती है। हाँ, यह अवश्य है कि राम और राम की विराट कथा को विभिन्न युगो मे मानव समाज ने विभिन्न दृष्टियो से ग्रहण किया है।

सम्प्रदायाचार्यों की दृष्टि सगुण भक्तो से भिन्न रही है, सन्तो की दृष्टि भक्तो से भिन्न रही है और लोकमानस ने इन्हे लोक जीवन के सहज, सरल जीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित कर इनका चरित्रगान किया है। राम के जीवन की रहस्यमयता और विराटता तो इसके मूल मे रही ही है,समाज की समसामयिक अवस्थायें और लोकमानस की व्यापक सवेदना भी इसका एक कारणभूत तत्व है।

प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय भाषाओ के साहित्य के गौरवमय परम्परा क्रम मे राजस्थानी भाषा और साहित्य भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है। राजस्थानी भाषा और साहित्य अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए भी भारतीय सास्कृतिक चेतना से सदैव जुड़े रहे है। भारतीय वाङ्मय के प्रभाव को राजस्थानी भाषा और साहित्य ने समय-समय पर ग्रहण किया है और उसे समय-समय पर प्रभावित भी किया है। विशेषकर, हिन्दी वाङ्मय के सदर्भ मे यह तथ्य पूर्णत सही है। चिन्तन और सृजन की अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो राजस्थानी भाषा और साहित्य म हिन्दी प्रदेशो के सामानान्तर चली हैं। तब रामकथा राजस्थानी साहित्य मे उपेक्षित कैसे रहती ? राजस्थानी जनजीवन आखिर विराट भारतीय जीवन-गगा की एक सरल-तरल लहर ही तो है।

राजस्थानी आभिजात्य साहित्य और लोक साहित्य दोनो मे ही रामकथा को पर्याप्त स्थान मिला है। रामकथा का आधार बनाकर काव्य-रचना की परम्परा राजस्थानी साहित्य मे बहुत पुरानी है। यदि रामकथा विषयक राजस्थानी लोकसाहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप मे इस विषय के आभि-जात्य साहित्य का विहगावलोकन कर लें तो कोई हानि नही होगी। मुक्तको के रूप मे तो राम के जीवनवृत को लेकर काव्य लिखा ही गया है, प्रबन्धो की रचना भी हुई है। नरहरिदास रचित अवतारचरित मे रामावतार का पूरा प्रसग है। महाकवि किसनाजी आढा ने रामकथा को लेकर रघुवरजस प्रकाश जैसे प्रबन्ध काव्य की वि स १८८१ मे रचना की जो राजस्थानी साहित्य का गौरव ग्र थ है। यद्यपि केशव रचित राम चन्द्रिका की भाँति यह राजस्थानी छन्दों का लक्षणग्र थ है किन्तु महाकवि ने अपने पूरे काव्य-कौशल के साथ इसमे राम का महिमागान किया है। इसी प्रकार रघुनाथरूपक गीतारो एक दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसे मछाराम सेवग ने वि स १८६३ म रचा था। यह राजस्थानी छन्दो एव अलकारो का दूसरा प्रसिद्ध लक्षण

ग्रथ है। इसका इतिवृत भी रामकथा है। माधोदासजी ने रामरासो महाकाव्य की रचना की जो आकार म बहुत विशाल है। इसम रामकथा आद्योपान्त वर्णित है। काव्य-कला की दृष्टि से भी यह कृति महत्वपूर्ण है। यह अभी अप्रकाशित है। महाराजा मानसिंह (जोधपुर) ने रामविलास प्रबन्ध काव्य की रचना की जिसमे काव्यकला और राजस्थानी भाषा का सौन्दर्य अत्यन्त हृदयमोहक है। तुलसीकृत रामचरितमानस का अविकल राजस्थानी अनुवाद कर्नल ठा श्यामसिंह ने किया जो राजस्थानी शोध सस्थान, जोधपुर से प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार राजस्थानी प्राचीन गद्य में राम के जीवनवृत को लेकर अनेक कथायें, टीकायें और अनुवाद मिलते हैं। 'रामचरित' शीर्षक से राजस्थानी गद्य मे रचित एक हस्तलिखित कथापुस्तक उपलब्ध है। लेखक हैं—गुसाई उदैराम भारती। वि स १८१४ मे इसकी रचना हुई थी। महादेव और पार्वती के सवाद-रूप मे राम की पूरी कथा इस कृति मे उपलब्ध है।

राजस्थानी लोकसाहित्य मे तो रामकथा के बहुरगी रूप अपनी सम्पूर्ण विस्तृति और मार्मिकता के साथ उपलब्ध हैं। लोक ने राम को आभिजात्य समाज से पृथक लोकजीवन धारा के एक अभिन्न सहज-सरल रूप म देखा और उनका उसी सादगी के साथ चित्रण किया है। रामकथा के सभी पात्र और घटनायें लोकजीवन की अकृत्रिमता और आडबरहीनता के साथ लोक-साहित्य मे वर्णित हुये हैं। राजस्थानी लोकसाहित्य की सभी प्रमुख विधाओ यथा—लोकगीत, लोकनाट्य (ख्याल), लोकगाथा, लोककथा, पद्य मे रामकथा प्रबन्ध अथवा मुक्तक के रूप मे हमे मिलती है। राजस्थानी भाषा की प्रमुख बोलियो (मारवाडी, मेवाडी, हाडौती, ढू ढाडी, शेखावाटी और मेवाती) के लोकसाहित्य की शायद ही कोई ऐसी विधा होगी जिसमे पूरी रामकथा अथवा उसके प्रसग चित्रित न हुये हो। रामकथा राजस्थान के धार्मिक और सास्कृतिक जीवन मे पानी और नमक की तरह घुली हुई है। शताब्दियो से इस प्रदेश के लोग भी रामकथा से अपने तमसावृत जीवन मे आलोक प्राप्त करते रहे हैं।

मैं अपनी बात राजस्थानी लोकगीतो से प्रारम्भ करना चाहूँगा। इन गीतो में रामकथा के सभी प्रमुख प्रसग वर्णित हुये हैं—यो ये स्फुट हैं किन्तु जब इन्हें रामजन्म की घटना से लेकर रावणवध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने

तुर्रा तार हजार
कड़ो जड़ाव, डोरा कठो
सारै मे सिरदार
रघुवर घूम रह्यो है जी
मिगसर महीने सुक्ल पचमी
सावो लिगन जोड़
राजा दसरथजी का कुवर कहीजे
सारां के सिर मोड़
रघुवर घूम रह्यो है जी
राघव घूम रह्यो है जी ।

इस गीत मे जिसे राजस्थान म 'बना' कहा जाता है राम समाज के एक साधारण 'वर' के रूप में चित्रित हुये हैं । उनकी वेशभूषा सामती परिवेश की है । केसरिया जामा, तुर्राकिलगी, डोराकठी और जड़ाऊ कडे के आभूषण आज भी राजस्थानी दूल्हा विवाह के अवसर पर पहनता है । इस गीत मे राम मे कही ब्रह्मत्व नही है । लोक ने इन्हे धरती पर बसे लोकसमाज मे एक सीधे-सादे सदस्य के रूप मे ग्रहण किया है ।

विवाह के अवसर पर अनेक टोने-टमके, सामाजिक और धार्मिक आचार सम्पन्न होते है । राम विवाह के प्रसग मे इनसे सबंधित अनेक गीत राजस्थानी लोकसाहित्य मे मिलते हैं । समधियो को गाई जाने वाली गालियाँ भी हैं जो दशरथ, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, कौशल्या, कैकेई, सुमित्रा आदि को सम्बोधित है । 'धनुष वाला रे मुकुट वाला छोटा भाई गोरा थे किया काला' । एक 'गाली' गीत है ।

सीता ने राम जैसा सुन्दर वर अम्बिका की अनन्य भाव से पूजा कर प्राप्त किया था । इस विषय का एक गीत यहाँ दे रहे हैं—

अम्बिका पूजण को, चाली है सीया बाग मे
पूजण को पुजापो लियो
थाल लियो हाथ मे
सग मे सहेल्या सोनी
चाली सीया बाग मे

अम्बिका पूजण को, चाली है सीया बाग मे
अम्बिका की पूजा कीनी
देवी को आशीष लीन्हो
इस्यो वर दियो मैया
अमर सुहाग मैं
अम्बिका पूजण को, चाली है सीया बाग मे

वनवास प्रसग के गीत का भाव-सौंदर्य देखिये—

हरि ने कुटिया बनाई रे जाय
वन मे प्रभु ने लीला रचाई रे
घासफूस की बणी कुटिया
चंदन बयारी लगाई
सीता माता बाग लगायो
सोवन मिरगो चर चर जाय
राम लछमण बैठे दो भाई
सीता बात चलाई
सोवन मिरगो चर-चर जावे
वींको खाल म्हारे मन भाई

रावणवध और लंका-विजय कर राम सीता, लक्ष्मण और हनुमान् के साथ अपनी प्रिय अयोध्या मे लौटकर आये है। राजभवन और समस्त पुरवासी आनन्द-विभोर होकर इनका स्वागत कर रहे है। बसन्त के आगमन से जैसे वाटिका प्रफुल्लित हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या का घर-आगन और अटारी फूल रहे हैं—

घर आया है लिछमण राम, अयोध्या फूल रही
सुरह गाय को गोबर मंगावो, घर अंगना लिपवाओ
माणक मोती चौक पुरावो, कंचन कलश मंगावो
अजोध्या फूल रही जी, घर आया है लिछमण राम
अयोध्या फूल रही ।
मात कौशल्या पूछण लागी, कहो लंक की बात
किण विध तो गढ लंका तोड़ी

किण विध ल्याया सीता नार
पुरी में ग्रानद हुग्रा, घर ग्राया है लिछमण राम
ग्रजोध्या फूल रही
घाट-घाट ग्रगद नैं रोक्या
ग्रोघड छोटो राम
दरवाजा हणवत नैं रोक्या
लछमण का चाल्या शक्तिबाण
पुरी में ग्रानद हुग्रा
घर ग्राया है लछमण राम
ग्रजोध्या फूल रही
रावण मार राम घर ग्राया
घर घर बटत बधाई
मात कौसल्या करत ग्रारती
हरखि-निरखि जस गायो
ग्रजोध्या फूल रही
घर ग्राया है लछमण राम
ग्रजोध्या फूल रही।

राजस्थानी लोकगीतों का एक वर्ग है 'हरजस'। हरजस सगुण भक्ति-मूलक होते हैं। राम भक्ति-विषयक ग्रनेक हरजस राजस्थानी भाषा में मिलते हैं। यह गीत रात्रि जागरण, हरिकीर्तन ग्रथवा ग्रन्य किसी धार्मिक ग्रवसर पर स्त्रियाँ समूह रूप में गाती हैं। यहाँ उदाहरणार्थ एक हरजस प्रस्तुत है—इसमें राममिलन की उत्कण्ठा चित्रित हुई है।

राम मिलण कद होसी रे म्हारा जोसी
राम मिलण कद होसी ॥टेर॥
ग्रावो जोसीजी थे तो पाट विराजो
बाच सुणावो थारी पोथी ॥म्हारा जोसी ॥
राम मिलण कद होसी
कुकु-केसर री जोसी गार गलाऊँ
हरजी रो मदरियो लिपाऊ रे ॥म्हारा जोसी ॥
सोना रुपारी जोसी ईट घडाऊँ

हरजी रो मन्दिरियो चणाऊँ ॥म्हारा जोसी॥
खीर खाड रा जोसी भोजन धणाऊँ
निवत जिमाऊँ थारो गोतो ॥म्हारा जोसी॥
दूध पोवण ने जोसी गाय दिराऊँ
हीरा जडाऊँ थारी पोथी ॥म्हारा जोसी ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'राजस्थानी लोकगीतों' में सम्पूर्ण रामकथा अपनी समग्र गरिमा के साथ चित्रित हुई है। स्थान-सकोच के कारण यहाँ मैंने कुछ ही गीत दिये है अन्यथा रामकथा का शायद ही कोई ऐसा प्रसग हो जो लोक की दृष्टि से ओझल रहा हो। इन गीतो की भाषा, अभिव्यक्ति शिल्प और विषय-वस्तु से यह स्पष्ट होता है कि लोकहृदय ने पुराण-पुरुष राम को अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप मे ग्रहण किया है। रामकथा की सीता लोक की एक लज्जाशीला मर्यादानुरागिनी कुलवधु है, रामकथा की कौशल्या स्नेहशीला वात्सल्यमयी माता है, रामकथा के लक्ष्मण और भरत, भाई के लिये सर्वस्व त्यागने वाले सेवानिष्ठ भाई हैं। लोकगीतों की इस रामकथा मे न सम्प्रदाचार्यों की वेदान्तिक ऊहापाह है और न कवि आचार्यों की कलाबाजियाँ। लोकजीवन की पवित्र अनलकृत भूमि पर इस कथा का प्रासाद खडा है।

राजस्थानी लोककथाओ मे रामकथा दो रूपो मे मिलती है—एक तो रामजी के जीवन-प्रसगो की छोटी-बडी कथायें। इन्हे जोडने पर हमे ईक्ष्वाकुवश के महिमा-गान से लेकर सीता त्याग,लवकुश का अश्वमेध के घोडे को रोक कर युद्ध करना इत्यादि विषयो तक की अविकल कथा मिल जाती है। क्योकि ये कथायें सब स्फुट हैं, अत कथाविन्यास की दृष्टि से बीच की कई कडियाँ टूटती-सी प्रतीत होती है। यह कथायें भी लोकगीत की प्रवृति के क्रम म हैं। दूसरे प्रकार की कथायें वे हैं जो राम, सीता, लक्ष्मण और हनुमान के प्रति साधारण जन की भक्ति और श्रद्धा से सम्बन्ध रखती है। इन कथाओ मे रामजी के जीवन के प्रसग प्रत्यक्ष-रूप मे नही, अप्रत्यक्ष रूप म आये हैं—भोले भक्तो की राम-लक्ष्मण के प्रति अनन्य भक्त इनमे प्रमुख रूप से वर्णित हुई है। रामनवमी पर जब राजस्थानी स्त्रियाँ व्रत रखती हैं तो इन कथाओ को कहती हैं और पूजा करती है। उदाहरणार्थ इस विषय की केवल एक लघुकथा मैं यहाँ दे रहा हूँ —

'एक सासु नैं बहू ही। सासु नै एक डावडो नित जिम्हावा को नेम हो। बा रोजीना एक डावडो जिम्हार रोटी खाती। एक दिन खुद तो बठई बारे चलीगी नैं बहू नैं कैयगी के तू डावडा ने जिम्हा दीजे। बहू डावडो उडीकै ही, जितरै बीनैं राम, लछमण, भरत, शत्रुघ्न चार जणा आता दीख्या। बहू ने तो टा कोनी के ए कुण है। वा तो सगला नैं जिम्हा दिया। पछै बा सोच्यो कै म्हारी सासू तो म्हनैं एक डावडो जिम्हावा की कैर गई ही। अबै तो सारी रसोई नीठगी, अबै म्ह काई करू। थोडी देर मे बीकी सासू आयी और पूछयो कै बहू, डावडो जिमा दियो कांई। जद बहू कियो कै म्ह तो चार जणा नैं जिमा दिया। जद सासू जाय नैं रसोई मे देख्यो तो रसोई को सारो सामान मौजूद हो। गद सासू-बहू रामबाग मे गई नै भगवान राम-लछमण रा दर्शन कर्‍या।'

उपरोक्त कथा राम-लक्ष्मण के बाल रूप के प्रति निर्मलमना स्त्रियों की भक्ति-भावना को प्रकट करती है। राम-भक्ति-परक ऐसी महत्वा छोटी—बडी कथायें राजस्थानी लोकसाहित्य मे मौखिक परम्परा मे उपलब्ध हैं।

राजस्थानी लोकसाहित्य की एक विधा है पड साहित्य। साहित्यिक दृष्टि से यह लोकगाथा है किन्तु इसम कपडे पर चित्र अंकित होते हैं जो सामान्य लोकगाथाओ मे नही होते। जब पड का पाठ होता है तो लम्बे कपडे पर बने चित्रो का प्रदर्शन होता है। पडवाचक भोपा इन चित्रो मे सामने नाचता-गाता है, साथ मे जन्तर नामक वाद्य और मजीरे बजते हैं। पड-वाचन का कार्यक्रम जाति विशेष के (गूजर, चमार, राजपूत, भामी इत्यादि) समाज के सामने पूरे धार्मिक अनुष्ठान के साथ रात्रि मे आयोजित होता है। राजस्थान मे देवनारायण, पाबूजी, रामदेवजी आदि लोकदेवताओ की पडे बहुत प्रसिद्ध है। इन पडो से सम्बन्धित लोकगाथायें प्राय मौखिक रूप में मिलती है। अब कुछ लोकवार्ताविदो और सस्थानो ने इन्हे लिपिबद्ध कर प्रकाशित करवाया है। राम और कृष्ण से सम्बन्धित पडे भी राजस्थान मे मिलती हैं—ये आकार म छोटी होती है अत इन्हे 'पडक्यें' भी कहते हैं। रामकथा से सम्बन्धित पड को 'रामदला की पड' कहते हैं। यहाँ एक बात ध्यान मे रखने की है कि 'रामदला की पड मे राम-कथा के अतिरिक्त अन्य पौराणिक कथायें जैसे-

कृष्णलीला, कौरव-पाण्डव की कथा, राजा मोरध्वज, हरिण्यकश्यप और प्रह्लाद की कथा, मच्छावतार, मत्स्यावतार विषयक कथायें भी होती है। राम के वनगमन से लेकर सीताहरण तक की कथा का इसमें विशेष-रूप से चित्रण होता है। 'सियाराम मय सब जग जानी' यह दार्शनिक सन्देश इस पड से मिलता है। इसे सभी धर्मों और जातियों के लोग बड़ी श्रद्धाभावना से देखते हैं। यह गद्य-पद्य में होती है और अकेला भोपा बिना किसी सांगीतक साज-सामान के इसका पाठ करता है। इसका गद्य भी लयात्मक होता है। गाथाकार पड के चित्रों की ओर संकेत करते हुये पूरी लयात्मकता के साथ गाथा कहता है। दर्शक समूह पूरी तन्मयता के साथ उस प्रदर्शन और गायन में आनन्द लेता है। इसके शैली-स्वरूप को समझने के लिये कुछ अंश उचित होंगे—

> अक लख पोती सवालख नाती।
> रावण के घर दिया न बाती।
> रावण के मगर की असवारी।
> दस माथा बीस भुजा है।

जद रावण ने गरब किया भगवान से ग्यारवां सीस गधे का लगाया। गरब गुमान भगवान किसी का नी चलवा दिया।

अर पे रावण का भाई कुम्भकरण। हाथी का सा कालजा अर बेल का सा सींगड़ा। कोठर की सी आंख्या। वे छै मीनां की नींद सोवे। छाती ऊपर हाथी चले तोई नींद मे पतो नीं पावे।

उपरोक्त अंशो मे रावण और कुम्भकरण का वर्णन है। पड में अंकित चित्रों की ओर संकेत करते हुये भोपा लय के साथ रावण और कुम्भकरण की कहानी कहता जाता है। शेष पड की रामविषयक कथायें इसी प्रकार चलती हैं। इस पड में, सरल-सीधी लोकभाषा में राम का संक्षिप्त इतिवृत्त रहता है।

राजस्थानी लोकनाट्य रामकथा विषयक सामग्री की दृष्टि से काफी समृद्ध है। समूचे उत्तर भारत और मध्यदेश की परम्परा मे रामलीला पूरे राजस्थान में पूरे वेग से प्रचलित होता है। दशहरे के दिनो में इसकी अधिक धूम रहती है। व्यावसायिक रामलीला मण्डलियाँ तो इसे खेलती ही हैं, धार्मिक भाव से

दशहरे के अवसर पर गाँवो और नगरो मे कुछ समाजसेवी संस्थायें भी इसका आयोजन करती है। राजस्थान मे रामलीला का प्रदर्शन कई शताब्दियो से हो रहा है। सामन्ती काल मे राजा महाराजा, ठाकुर और जागीरदारो ने इसे विशेष आश्रय प्रदान कर रखा था। अब यह जनाश्रय पर चल रही है। बिसाऊ, (शेखावटी), पाटूदा, भरतपुर और कोटा की रामलीलायें प्रसिद्ध है। इन रामलीलाओ का कथानक रामजन्म से प्रारम्भ होकर राम का अयोध्या आगमन, भरत-मिलाप और राज्याभिषेक तक चलता है। तुलसीकृत रामचरितमानस को आधार बनाकर यह रामलीलायें खेली जाती हैं। ये पद्यबद्ध होती है, कहीं-कहीं पर सवादो मे राजस्थानी गद्य का प्रयोग भी होता है। पद्यमय सवाद राजस्थानी लोक सगीत की राग-रागनियो मे निबद्ध होते हैं। राजस्थान मे कुछ क्षेत्रो मे रामलीला को 'समदा' कहते है। इसकी विषय-वस्तु राम के जीवन की प्रमुख घटनाओ से सम्बद्ध होती है—नृत्य, गीत और वाद्यो का प्रयोग इसमे बहुलता से होता है। राजस्थानी ख्याल पद्धति मे लिखी हुई कुछ रामलीला की पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनमे लोक सगीत मे बद्ध पद्यात्मक सवादो एव नृत्यो की प्रधानता होती है।

ब्रज की रासलीला के आधार पर राजस्थान मे राम की लीलाओ को लेकर रासधारी का प्रचलन शुरू हुआ। रासधारी राजस्थानी नाट्य की एक विधा है जिसकी विषयवस्तु रामकथा होती है। रासलीला और रासधारी मे तात्विक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। रासलीला नृत्य-प्रधान होती है जबकि रासधारी ख्याल-प्रधान होती है। इसमे राम की सम्पूर्ण जीवन-कथा न होकर बनवास की झाकियाँ ही होती है। रासलीला की कमनीय कला का भी इसमें अभाव होता है। मेवाड मे रासधारी का प्रचलन अधिक है। रासधारी के एक-दो गीत उदाहरणार्थ यहाँ दिये जा रहे हैं। पचवटी मे राम अपनी कुटिया मे हैं, उस दृश्य का वर्णन निम्नोक्त गीत मे है—

जाय हरि बन मे तो कुटिया बनाई
कुटिया बनाई हर ने कुटिया बनाई ॥ टेर ॥
भोजपतर की बणी मंडइया चन्दन बली सवाई
हरी-हरी बाडो बोय दई
तब मिरगा री बण आई रे।

दूसरे निम्नोक्त गीत का प्रसग है राम का लका मे सेना सहित प्रवेश तथा मदोदरी का रावण को समझाना—

गढ लका माई, अजी गढ लंका मांई
आई असवारी राजा राम की
कहत मदोदर सुण पिया रावण
मे क्या कुमत उपाई रे
फुदकत देख्या रींछरे बांदरा
कोट समद तेरी लाई रे ।

राजस्थानी लोकसहित्य मे रामकथा के अनेक प्रसगो को लेकर कहावतें और लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं । कैकेई, मथरा, भरत,रावण, विभीषण, कुम्भकरण आदि रामकथा के पात्रो एव सुखद-दुखद घटनाओं को लेकर राजस्थानी लोक-मे सहस्रो लोकोक्तियाँ और कहावतें प्रचलित हैं जो बडी सार्थक है । लोक व्यवहार मे इनका प्रयोग होता है । राम को परब्रह्म के रूप मे मानकर भी कई कहावतें प्रचलित हैं । उदाहरणार्थ देखिये—

१. कण-कण भीतर रामजी, ज्यू चकमक मे आग
२. आधा की माखी राम उडावे
३. रामजी को नाव सदा मिसरी
जद चाखे जद गूंदगिरी
४. रामजी ऊपर बक्यो देखे है।

उपरोक्त अनुच्छेदो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी के आभिजात्य और लोकसाहित्य-दोनो मे रामकथा अपने बहुरगी रूपो मे उपलब्ध है। राजस्थानी साहित्य की शायद ही कोई विधा ऐसी हो जिसमे रामकथा को आधार बनाकर रचना न हुई हो। वर्तमान मे भी राम के विराट व्यक्तित्व से सम्बन्धित कोई घटना अथवा विचार प्राय अभिधा अथवा लक्षणा रूप मे राजस्थानी के आभिजात्य और लोकरचनाकार के कृतित्व मे अभिव्यक्ति पाते हैं। सभवत मानव ससृति के अन्त तक यह होता रहेगा क्योंकि रामकथा भारतीय जीवन और सस्कृति के साथ एक रस हो गई है ।

——:——

दशहरे के अवसर पर गाँवो और नगरो मे कुछ समाजसेवी सस्थायें भी इसका आयोजन करती हैं। राजस्थान मे रामलीला का प्रदर्शन कई शताब्दियो से हो रहा है। सामन्ती काल मे राजा महाराजा, ठाकुर और जागीरदारो ने इसे विशेष आश्रय प्रदान कर रखा था। अब यह जनाश्रय पर चल रही है। बिसाऊ, (शेखावटी), पाटू दा, भरतपुर और कोटा की रामलीलायें प्रसिद्ध हैं। इन रामलीलाओ का कथानक रामजन्म से प्रारम्भ होकर राम का अयोध्या आगमन, भरत मिलाप और राज्याभिषेक तक चलता है। तुलसीकृत रामचरितमानस को आधार बनाकर यह रामलीलायें खेली जाती है। ये पद्यबद्ध होती हैं, कहीं-कहीं पर सवादो मे राजस्थानी गद्य का प्रयोग भी होता है। पद्यमय सवाद राजस्थानी लोक सगीत की राग-रागनियो मे निबद्ध होते हैं। राजस्थान मे कुछ क्षेत्रो मे रामलीला को 'समदा' कहते है। इसकी विषय-वस्तु राम के जीवन की प्रमुख घटनाओ से सम्बद्ध होती है—नृत्य, गीत और वाद्यो का प्रयोग इसमे बहुलता से होता है। राजस्थानी ख्याल-पद्धति मे लिखी हुई कुछ रामलीला की पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनमे लोक सगीत मे बद्ध पद्यात्मक सवादो एव नृत्यो की प्रधानता होती है।

ब्रज की रासलीला के आधार पर राजस्थान मे राम की लीलाओ को लेकर रासधारी का प्रचलन शुरू हुआ। रासधारी राजस्थानी नाट्य की एक विधा है जिसकी विषयवस्तु रामकथा होती है। रासलीला और रासधारी मे तात्विक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। रासलीला नृत्य-प्रधान होती है जबकि रासधारी ख्याल-प्रधान होती है। इसमे राम की सम्पूर्ण जीवन-कथा न होकर बनवास की झाकियाँ ही होती हैं। रासलीला की कमनीय कला का भी इसमे अभाव होता है। मेवाड मे रासधारी का प्रचलन अधिक है। रासधारी के एक-दो गीत उदाहरणार्थ यहां दिये जा रहे हैं। पचवटी मे राम अपनी कुटिया मे हैं, उस दृश्य का वर्णन निम्नोक्त गीत मे है—

जाय हरि वन मे तो कुटिया बनाई
कुटिया बनाई हर ने कुटिया बनाई ॥ टेर ॥
भोजपतर की बणी मडइया चन्दन बली लगाई
हरी - हरी बाडो बोय दई
तब मिरगा री बण आई रे।

दूसरे निम्नोक्त गीत का प्रसंग है राम का लंका में सेना सहित प्रवेश तथा मंदोदरी का रावण को समझाना—

गढ़ लंका माई, अजी गढ़ लंका माई
आई असवारी राजा राम की
कहत मंदोदर सुण पिया रावण
थे क्या कुमत उपाई रे
कुदकत देख्या रींछरे बांदरा
कोट समद तेरी खाई रे ।

राजस्थानी लोकसाहित्य में रामकथा के अनेक प्रसंगो को लेकर कहावतें और लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं । कैकेई, मथरा, भरत,रावण, विभीषण, कुम्भकरण आदि रामकथा के पात्रों एवं सुखद-दुखद घटनाओं को लेकर राजस्थानी लोक-में सहस्त्र लोकोक्तियाँ और कहावतें प्रचलित हैं जो बड़ी सार्थक हैं । लोक व्यवहार में इनका प्रयोग होता है । राम को परब्रह्म के रूप में मानकर भी कई कहावतें प्रचलित है । उदाहरणार्थ देखिये—

१. कण-कण भीतर रामजी, ज्यूं चकमक में आग
२. आधा की आखो राम उठावे
३. रामजी को नाव सदा मिसरी
   जद चाखे जद गुदगिरी
४. रामजी ऊपर चढ्यो देखे है ।

उपरोक्त अनुच्छेदों में यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी के आभिजात्य और लोकसाहित्य-दोनों में रामकथा अपने बहुरंगी रूपों में उपलब्ध है । राजस्थानी साहित्य की शायद ही कोई विधा ऐसी हो जिसमें रामकथा को आधार बनाकर रचना न हुई हो । वर्तमान में भी राम के विराट व्यक्तित्व से सम्बन्धित कोई घटना अथवा विचार प्राय अभिधा अथवा लक्षणा रूप में राजस्थानी के आभिजात्य और लोकरचनाकार के कृतित्व में अभिव्यक्ति पाते हैं । संभवत. मानव समृति के अन्त तक यह होता रहेगा क्योंकि रामकथा भारतीय जीवन और संस्कृति के साथ एक रस हो गई है ।

——

नागपंचमी : एक सांस्कृतिक अध्ययन

समाजशास्त्रियो ने उत्सव और मेलो को समाज की खिडकी कहा है—इनके द्वारा किसी भी जाति का रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, चालढाल, रीति-रस्म की झाकी मिल जाती है। उत्सव, पर्व और मेले मानव समाज के हार्दिक आनन्द और आह्लाद-पक्ष को ही प्रकट नही करते, वे उसके मानसिक-जगत और उसकी संस्कृति की तलस्पर्शी पर्तों का भी उद्घाटन करते है। ऊपर से केवल लोकानुरजनकारी लगने वाले मेले और उत्सव अपनी अक मे अनादिकाल से प्रचलित लोक-विश्वासो, मान्यताओ और आस्थाओ को समेटे हुये है। कुये, नदी, सरोवर, पर्वत, वृक्ष, पशु-पक्षी, सर्प, नाग, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, पवन, दिशायें, आकाश, पृथ्वी, गृह, नक्षत्र आदि की उपासना और पूजा का इतिहास अत्यन्त रोचक है—वह आदिम, प्रागैतिहासिक और तर्कहीन नही है। लोक के जीवन-दर्शन की सुव्यवस्थित विकास-परम्परा का उसमे अभिव्यक्ति मिली है। नाग-पूजा से सम्बन्धित नागपचमी लोकोत्सव समूचे भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतवर्ष के किसी प्रान्त मे चले जाइये, नाग पूजा का कोई न कोई रूप किसी लोकोत्सव मे देखने को मिल जायेगा। न केवल भारतवर्ष अपितु समूचे विश्व मे अत्यन्त प्राचीन काल से नागो की अर्चा का कोई न कोई रूप आज भी विद्यमान है। चीन के निवासियो का विश्वास है कि नाग देवता पानी बरसाते हैं। प्राचीन मिश्र मे यह उपज और फसल की अधिष्ठात्री देवी 'रमुत' का प्रतीक माना जाता था। नागो को लेकर इसी प्रकार की मान्यतायें विश्व के अन्य देशो मे रही हैं।

नाग-पूजा भारतीय लोकधर्म का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग रहा है। नाग देवता के उत्सव का प्राचीन साहित्य मे 'नाग मह' कहा गया है। वैदिक, बौद्ध, जैन आदि सभी भारतीय धर्मों मे नाग पूजा का समन्वय किसी न किसी रूप मे देखने को मिलता है। धर्म-सम्प्रदायो के इतिहास के अध्ययन से प्रकट होता है

कि नाग-पूजा की परम्परा यक्ष-पूजा से भी अधिक प्राचीन है। नागों की माता सुरसा पृथ्वी की ही संज्ञा है। धार्मिक उपाख्यानों के अध्ययन से प्रकट होता है कि नाग देवता का सम्बन्ध विष्णु और शिव के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय देवी-देवताओं से रहा है। विष्णु अनन्त नामक शेषनाग की शैय्या पर सोते हैं। शिव अथवा रुद्र नाग को मुक्ताहार की भांति अपने गले में अथवा मस्तक पर धारण किये रहते हैं। कृष्ण और कालिया नाग की कथा, जन्मेजय के नाग यज्ञ का आख्यान सर्वविदित हैं। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्‌मय में नाग-पूजा को लेकर नाना प्रकार के रोचक आख्यान पढ़ने को मिलते हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्‌मय के अध्ययन से सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में नाग को लेकर मुख्यतः लोक की यह मान्यतायें रही हैं कि नाग उपज का अधिष्ठान-देवता है, वह जल का स्वामी है, धन और सम्पत्ति का देने वाला है। संक्षेप में, वह सृष्टितत्व का प्रतीक है। इसी कारण भारतीय धर्म में नाग-पूजा का महनीय स्थान रहा है। यों तो संहिताओं और पुराणों में अनेक नागों के नामों का उल्लेख मिलता है किन्तु लोकपक्ष में नागों की अष्टकुली का उल्लेख आता है—ये नाग हैं शेष, वासुकि, कंबल, करकोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक। वासक नाग का नाम तो भारतीय लोककथाओं में प्रायः मिल जाता है। यहाँ तक कि नायिका की सुन्दर वेणी को भी वासक नाग से उपमित किया गया है।

नाग-पूजा का यह रूप भारतीय लोक में नागपंचमी के उत्सव के रूप में मनाया जाता है। श्रावण शुक्ल पंचमी को नागपंचमी का त्योहार होता है। इस दिन स्त्रियाँ अपने घरों की दीवारें पात कर नाग-आकृति अंकित करती हैं और सामूहिक रूप में नाग देवता से सम्बन्धित गीत गाकर और कथा कह कर उनकी अर्चा करती हैं। कुछ प्रदेशों में नाग-आकृति के साथ गरुड़ जैसे पक्षी का चित्र भी कोरा जाता है जो नाग और गरुड़ के संग्राम का प्रतीक है। किन्तु अधिकांश प्रदेशों में केवल नाग की आकृति ही कोरी जाती है। कुछ मोहल्लों में स्थायी रूप से नाग देवता के थान बने होते हैं—उन मोहल्लों की स्त्रियाँ सामूहिक रूप से वहाँ जाकर अर्चा करती हैं। यह पूजा प्रातःकाल ही की जाती है, प्रसाद बांटा जाता है। नाग-पूजा के दिन घरों में विशेष प्रकार का भोजन तैयार किया जाता है। कुछ प्रदेशों में नाग-पूजा के दिन नदी, सरोवर के तट पर अथवा किसी उद्यान में मेले भी लगते हैं। इस प्रकार नागपंचमी एक महत्वपूर्ण भारतीय लोकोत्सव है।

राजस्थान के प्रत्येक नगर और गाँव मे श्रावण शुक्ल पचमी को नागपचमी का लाकोत्सव बडे उत्साह और उमग के साथ मनाया जाता है। पहले दिन से ही इसकी तैयारी यहाँ शुरू हो जाती है। घर अथवा मोहल्ले में किसी विशेष स्थान की दीवार को पोत कर उस पर नाग देवता अंकित कर लिया जाता है। मूग अथवा मोठ के बिरिये तैयार किये जाते है—नाग देवता की पूजा मे बिरिये अवश्य रखे जाते हैं—उन्हें नागजी के बिरिये कहा जाता है। कुछ जातियो मे नागपचमी के दिन ठण्डा भोजन करने का रिवाज है। इसलिये पहली रात को ही भोजन तैयार कर लिया जाता है—मिष्ठान्न मे मालपुये और गुलगुले विशेष रूप से तैयार किये जाते है। अपनी कामना-सिद्धि के फलस्वरूप कुछ लोग इस दिन नागजी की कडाई चढाते हैं और पूरे मोहल्ले मे कडाई का प्रसाद बाटते हैं। कुछ घरो मे रातीजगा (रात्री जागरण) का आयोजन किया जाता है और रात भर स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा और अर्चा के गीत गाती हैं।

केसरिया कवरजी, गोगाजी, तेजाजी, खागलजी आदि लोकदेवता राजस्थान मे नाग देवता के प्रतीक कहे गये हैं इसलिये नागपचमी के दिन इन लोकदेवताओ के मदिरो अथवा स्थानो पर बडे विशाल मेले लगते है। इन देवताओं के भोपों में इस दिन भाव भी आता है और स्त्री-पुरुष इनसे अपनी मनोवाच्छाओ का उल्लेख कर उनकी पूर्ति के उपाय पूछते हैं। सर्पदश से पीडित लोगो को तो गाँवो मे एक मात्र शरण नाग देवता के ये स्थान ही है। आज अति विकसित इस विज्ञान के युग मे भी ग्रामीण जनता सर्पदंश की चिकित्सा केसरिया कवरजी, तेजाजी पाबूजी आदि के स्थान पर आकर मत्रो द्वारा ही करवाती है। बाझ स्त्रियो मे यह अटूट आस्था है कि नाग देवता के प्रसन्न होने पर उन्हें सतान की प्राप्ति हा सकती है। इसलिए ऐसी स्त्रियाँ भी नागपचमी को बडे उत्साह से नाग देवता के मेलो में सम्मिलित होती हैं। इन मेलो मे कालबेलिये विशेषरूप से एकत्र होते हैं और पूगी पर विशेष राजस्थानी लोक धुनें बजा कर, नाच-गाकर तथा सापो का प्रदर्शन कर लोगो का मनोरजन करते हैं। कुछ लाग इस दिन नाग देवता की मत्राभिषिक्त ताती (तत्र) बाँधते हैं। नागपचमी क्योकि श्रावण मे आती है, इसलिये यह लोकोत्सव पावस ऋतु की मनमोहक छटा के कारण और भी आनन्ददायक बन जाता है। मरुधरा इस समय हरे परिधानो से अलकृत अत्यन्त शोभायमान लगती है—मेघाच्छन्न आकाश, सावन मास की रिमझिम, तन-मन को गुदगुदाने वाला

पूर्वी पवन और इन्द्रधनुषों के अरुणराग मुक्ताहलो से अंकित स्वर्णबालुकामय धरित्री इस लोकोत्सव को नया वैभव प्रदान करते है। नागपचमी व लावोत्सव मे इस अनुकूल ऋतु-सौन्दर्य के कारण नई चेतना और रंगीनी आ जाती है। इधर रिमझिम के नूपुर बाधे पावस का ठुमुक-नृत्य और उधर नाग देवता की संगीतमय अर्चा के लोकगीतो से दिशायें रसमुग्ध हो जाती है—राजस्थानी रमणिया के मत्तकठ से तब स्वर-लहरी फूटती है—

नागजी थे म्हारे आज्यो,
नागजी पावणा भरण
सावणिये'रे मास श्रो भागिन सू जम्या
ऊँचा तो घालू नागजी बेसणा
सुल—सुल लागूजी पाय हो
फूलाबाई रा बीरा, दूलों पलेटो काचा दूध मे।
चावल तो राधू नागजी ऊजला
हरिया मू गारी दाल श्रो भागिन रा जम्या
वेजू'लो पलेटो बालू रेत मे
जीम्या तो धूव्या नागजी रुच रह्या
अमृत चुलू हे कराय, हो नागणरा जाया
थाल परोस नागनी भाभर की भकार
हो फूलाबाई रा बीरा
नागजी थे, आज्यो पावणां

'हे नाग देवता! आप मेरे घर मेहमान बनकर आओ। मैं तुम्हे शोभा सिंहासन पर बैठाऊँगी, झुक झुक कर प्रणतिमय नमस्कार करूँगी। हे फूलबाई के भ्राता नागजी, मै तुम्हे कच्चे दूध मे सरोबार कर दूँगी, उज्ज्वल रग के रोचक चावल-भात खिलाऊँगी। हरे मू गा की दाल खिलाकर वालुका रज में विश्राम कराऊँगी। हे नाग देवता, आप मेरे घर पाहुन बन कर आओ।

इस प्रकार के और भी पूजा और अर्चा-गीत नागपचमी के दिन राजस्थानी महिलायें गाती है। नागजी से सम्बन्धित पौराणिक और ऐतिहासिक सदर्भो से युक्त एक और लोकगीत भी इस पर्व पर गाया जाता है। इसमे वेजू और नागजी के विवाह की घटना का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है।

थे म्हारे भ्राजोजी म्हारा नाग बाबा पावणा
जोधपुरी दरवाजे म्हारो नाग बाबो खेल रह्यो
बालू-बालू रेता मे म्हारो नाग बाबो रम रह्यो
सावणियो रो पहलो जी मास,
करेला चूटण केजू नीकली
दियो केजू करेला मे हाथ
नागजी चटकायो चिटली आंगली
कोई म्हारो केजू नै जिवाय
वींनै' ही परणाऊँ कोई नागजी
म्हारी केजू पांच बरस री धीव
नागजी भजरामण बूढा डोकरा
दिया गुणिया विपर बुलाय
हरण हथलेवो छुडाया नागजी
दी कपिला गाय बुलाय
हरण हथलेवो छुडाया नागजी

नाग देवता की पूजा के समय अर्चा-गीतों के अतिरिक्त नागजी से सम्बन्धित धार्मिक लोक-कथाये भी कही जाती है। समूचे विश्व के लोक-वाङ्मय में अनेको ऐसे धर्माख्यान है जिनमे नाग देवता की चामत्कारिक शक्तियो में विश्वास और आस्था प्रकट की गई है। जैन जातक, बौद्ध जातक, पचतत्र, हितोपदेश एव कथासरित्सागर मे नाग देवता से सम्बन्धित अनेक कथायें है। पचतत्र मे नाग देवता से सम्बन्धित यो तो और भी कथायें है किन्तु निम्नोक्त कहानी भारतीय लोक कथाओ मे कई रूपो मे मिलती है। कहानी सक्षेप मे इस प्रकार है। एक ब्राह्मण की पत्नी ने नागरूपी पुत्र को जन्म दिया। उसका विवाह एक सुन्दरी कन्या से कर दिया गया। रात मे जब यह नव दम्पत्ति मिलते तो नाग रूपी यह युवक केंचुल उतार कर अलग रख देता और मनुष्यरूप मे अपनी पत्नी से आचरण करता। एक रात इस प्रकार वे दोनो सुखशयन कर रहे थे। अचानक उस युवक का पिता वहाँ पहुँच जाता है और केंचुल को पडा देखता है तो वह उसे जला डालता है। इसके फलस्वरूप वह नागरूपी युवक स्थायीरूप

नागपचमी की पूजा के समय राजस्थानी महिलायें भी इस प्रकार की अनेक कहानियाँ कहती हैं। उनमें एक बहुत प्रसिद्ध है जिसका अत्यन्त संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

एक सेठ के सात लड़के थे, उनकी सात बहुयें थीं। सातवीं बहू के जो उम्र में सबसे छोटी थी पीहर में कोई नहीं था। देवराणी-जिठाणियों में बात चलने पर अत्यन्त दुखी होकर वह कहती कि मेरे तो पीहर में कोई नहीं है। यहाँ तक कि काले नाग का बच्चा भी नहीं जो मुझे कभी पीहर ले जाने को लेने आये। एक बार यह सब मिलकर जंगल में कण्डे चुगने गई थीं—वहाँ अचानक एक साँप दिखाई दिया—वे सब उसे मारने लगीं। तब इस छोटी बहू ने कहा कि इसे मत मारो, मेरा तो भाई भतीजा यही है। इस प्रकार उस नाग देवता के उसने प्राण बचा लिये। कुछ दिनों बाद सब बहुओं को उनके पीहर से भाई भतीजे लेने आये। वह नाग देवता जिसके प्राणों की रक्षा इसने की थी, इसे भी लेने आया। सासू श्वसुर की अनुमति से यह अपने इस धर्म के भाई नाग देवता के साथ साँपों की नगरी में गई। वहाँ इसका खूब ही स्वागत हुआ—धर्मपुत्री की भाँति इसका लाड-प्यार किया और कुछ दिनों बाद बहुमूल्य वस्त्राभूषण देकर इसे विदा किया। जब यह लौटकर सुसराल आयी तो देवराणियाँ-जेठाणियाँ इसके धन-वैभव को देखकर जलने लगीं और बार-बार इसे मारने की योजना बनाकर ऐसे स्थानों में भेजने लगीं जहाँ इसे कोई साँप काट खाये। जब किसी साँप से इसका सामना होता तो यह कहती—

जीवो नाग-नागोलिया
जीवो बूढ़लो बाप
जिन म्हारो लाड लडाइयो
पायल घाली पाय

और वह साँप उसे सोने की पायल पहना देता।

जीवो नाग-नागोलिया
जीवो बूढलो बाप
जिण म्हारो लाड लडाइये
घाल्यो नव नव करोड़ को हार

थे म्हारे भाजोजी म्हारा नाग बाबा पावणा
जोधपुरी दरवाजे म्हारो नाग बाबो खेल रह्यो
बानू-बानू रेता मे म्हारो नाग बाबो रम रह्यो
सावणियो रो पहलो जी मास,
करेला चूटण केनू नीकली
दियो केनू करेला में हाथ
नागजी चटकायो विटली आंगली
कोई म्हारो केनू नै जिवाय
थीनें' हो परणाऊँ कोई नागजी
म्हारी केनू पांच बरस री धीय
नागजी अजरामण बूढा डोकरा
दिया गुणिया विपर बुलाय
हरण हथलेवो छुड़ाया नागजी
दी कपिला गाय चुलाय
हरण हथलेवो छुड़ाया नागजी

नाग देवता की पूजा के समय अर्चा-गीतों के अतिरिक्त नागजी से सम्बन्धित धार्मिक लोक-कथायें भी कही जाती है। समूचे विश्व के लोक-वाङ्मय मे अनेकों ऐसे धर्माख्यान है जिनमें नाग देवता की चामत्कारिक शक्तियों में विश्वास और आस्था प्रकट की गई है। जैन जातक, बौद्ध जातक, पचतंत्र, हितोपदेश एवं कथासरित्सागर में नाग देवता से सम्बन्धित अनेक कथायें है। पचतंत्र में नाग देवता से सम्बन्धित यो तो और भी कथायें है किन्तु निम्नोक्त कहानी भारतीय लोक कथाओ मे कई रूपो मे मिलती है। कहानी सक्षेप में इस प्रकार है। एक ब्राह्मण की पत्नी ने नागरूपी पुत्र को जन्म दिया। उसका विवाह एक सुन्दरी कन्या से कर दिया गया। रात मे जब यह नव दम्पत्ति मिलते तो नाग रूपी यह युवक केंचुल उतार कर अलग रख देता और मनुष्यरूप मे अपनी पत्नी से आचरण करता। एक रात इस प्रकार वे दोनों सुखशयन कर रहे थे। अचानक उस युवक का पिता वहाँ पहुँच जाता है और केंचुल को पडा देखता है तो वह उसे जला डालता है। इसके फलस्वरूप वह नागरूपी युवक स्थायीरूप से पुरुष बना रहता है।

नागपंचमी की पूजा के समय राजस्थानी महिलायें भी इस प्रकार की अनेक कहानियाँ कहती हैं। उनमें एक बहुत प्रसिद्ध है जिसका अत्यन्त संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

एक सेठ के सात लड़के थे, उनकी सात बहुयें थीं। सातवीं बहू के जो उम्र में सबसे छोटी थी पीहर में कोई नहीं था। देवराणी-जिठाणियों में बात चलने पर अत्यन्त दुखी होकर वह कहती कि मेरे तो पीहर में कोई नहीं है। यहाँ तक कि काला नाग का बच्चा भी नहीं जो मुझे कभी पीहर ले जाने को लेने आये। एक बार यह सब मिलकर जंगल में कण्डे चुगने गई थीं—वहाँ अचानक एक सांप दिखाई दिया—वे सब उसे मारने लगीं। तब इस छोटी बहू ने कहा कि इसे मत मारो, मेरा तो भाई-भतीजा यही है। इस प्रकार उस नाग देवता के उसने प्राण बचा लिये। कुछ दिनों बाद सब बहुओं को उनके पीहर से भाई-भतीजे लेने आये। वह नाग देवता जिसके प्राणों की रक्षा इसने की थी, इसे भी लेने आया। सासू-श्वसुर की अनुमति से यह अपने इस धर्म के भाई नाग देवता के साथ सांपों की नगरी में गई। वहाँ इसका खूब ही स्वागत हुआ—धर्मपुत्री की भांति इसका लाड़-प्यार किया और कुछ दिनों बाद बहुमूल्य वस्त्राभूषण देकर इसे विदा किया। जब वह लौटकर सुसराल आयी तो देवराणियाँ-जेठाणियाँ इसके धन-वैभव को देखकर जलने लगीं और बार-बार इसे मारने की योजना बनाकर ऐसे स्थानों में भेजने लगीं जहाँ इसे कोई सांप काट खाये। जब किसी सांप से इसका सामना होता तो यह कहती—

जीवो नाग-नागोलिया
जीवो बूढ़लो बाप
जिन म्हारो लाड लडाइयो
पायल घाली पाय

और वह सांप उसे सोने की पायल पहना देता।

जीवो नाग-नागोलिया
जीवो बूढलो बाप
जिण म्हारो लाड लडाइये
घाल्यो नव लव करोड़ को हार

नमूना रसीद मध्ये प्रामेसरी नोट नं० (१)

टिकट
नासिरुद्दीन बक़लम खुद ता०

मैं कि नासिरुद्दीन वलद मियांखां कौम पठान साकिन परगना व तहसील जि० का हूं, जो कि दो सो रुपये कि उसके आधे सौ रुपये होते हैं, मुं० अब्दुल करीम खां वलद मुं० इनायत अहमद खां कौम पठान साकिन जि० से बाबत मुआवज़ा प्रामेसरी नोट नविश्तः खुद मौसूमा मुंशी साहिब मौसूफ नकद वसूल पाये, इस लिये यह रसीद टिकट चस्पा लिखदी कि सनद रहे।

अल अ ———— ब्द गवाह शु ———— द गवाह शु ———— द

नासिरुद्दीन बक़लम खुद

तहरीर तारीख़ मुकाम

नमूना रसीद नं० २

तारीख़ १६ सितम्बर सन् १९१७ को मुक्त नौबतराय वलद रामधन ब्राह्मण साकिन शाह नगर तहसील जि० ने मुबलिग कि उसके आधे मुबलग रुपये होते हैं पं० देवीकीनन्दन वलद राम सहाय ब्राह्मण साकिन मौज़ा शाह नगर मज़कूर से बाबत मुआवज़ा रुक्का जो मैंने बहयक उक्त पंडित जी के आज लिखा है नकद वसूल पाये इस लिये यह रसीद लिख दी॥

अल अ ———— ब्द गवाह शु ———— द

संदर्भ

१	लोकसाहित्य विज्ञान	—डा० सत्येन्द्र
२	लोकवार्ता की पगडंडियाँ	— ,, ,,
३	ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन	— ,, ,,
४	लोकसाहित्य की भूमिका	—डा० कृष्णदेव उपाध्याय
५	लोकरंग	—डा० महेन्द्र भानावत
६	राजस्थानी लोक नाट्य	— ,, ,,
७	राजस्थानी संस्कृति की रूपरेखा	—डा० मनोहर शर्मा
८	भारतीय लोक साहित्य	—डा० श्याम परमार
९	मारवाड़ी गीत संग्रह	—मेताराम माली
१०	राजस्थानी लोकगीत	—सूर्यकरण पारीक
११	,, ,,	—रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत
१२	,, ,,	—डा० रामप्रसाद दाधीच
१३	,, ,,	—डा० पुरुषोत्तम मेनारिया
१४	,, ,,	—श्री रावत सारस्वत
१५	,, ,,	—स्वर्णलता अग्रवाल
१६	वीरो म्हारा भाई	—विजयदान देथा
१७	मीठा वीरा रा बाळणो	,, ,,
१८	दोरी धीया नै सासरा	,, ,,
१९	क्यू दीनी परदेस	,, ,,
२०	गई-गई रे ममद तलाव	,, ,,
२१	मरवण माथी आ	,, ,,
२२	राजस्थानी लोकगीत (परम्परा)	—स. डा. नारायणसिंह भाटी
२३	राजस्थानी बात संग्रह (परम्परा)	—स. डा. नारायणसिंह भाटी
२४	राजस्थानी लोककथा कोश	—श्री गोविन्द अग्रवाल